वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२
विवेक ज्योति
वर्ष ५५ अंक १२ दिसम्बर २०१७
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
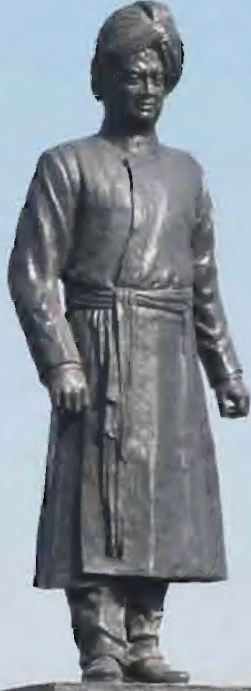
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २०१७

वर्ष ५५
अंक १२

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–
१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

दिसम्बर माह के जयन्ती और त्योहार

९	श्रीमाँ सारदा देवी
१३	स्वामी शिवानन्द
२४	स्वामी सारदानन्द
२५	गुरु गोविन्द सिंह, क्रिस्मिस डे

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी विवेकानन्द की यह मूर्ति नागपुर स्थित अंबाझरी तालाब की है ।

आवश्यक सूचना

९ दिसम्बर, २०१७ को श्रीमाँ सारदा देवी और ८ जनवरी, २०१८ को स्वामी विवेकानन्द के जन्म-जयन्ती के अवसर पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर स्थित मन्दिर में विशेष-पूजा, होम और व्याख्यान होंगे ।

२६ जनवरी से ३ फरवरी, २०१८ तक आश्रम प्रांगण में स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती (राजेश रामायणीजी) के रामचरितमानस पर संगीतमय प्रवचन होंगे ।

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्रीमती सुगंधा धामोरीकर, नागपुर (महा.)	१०००/-
श्रीमती लीलावती तिवारी, राघवनगर, देवरिया (उ.प्र.)	१०००/-
श्रीमती कालिन्दी वर्मा, राघवनगर, देवरिया (उ.प्र.)	१०००/-
श्री आकाश कुमार श्रीवास्तव, देवरिया (उ.प्र.)	१०००/-
श्री बी.एस.पमनानी, विनोबानगर बिलासपुर (छ.ग.)	१००००/-

क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
३५५ श्री नरोत्तमलाल साहू, सिवनी, चांपा (छ.ग.)	गवर्नमेंट गर्ल्स डिग्री कॉलेज, सतना (म.प्र.)
३५६. श्री नुनिया राम मास्टर, चंडीगढ़	डी. ए.वी. कॉलेज, जिला - अम्बाला (हरयाणा)
३५७. ” ”	डिस्ट्रीक्ट इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन एंड ट्रेनिंग, अम्बाला
३५८. ” ”	ब्लॉक इंस्टीट्यूट ऑफ टीचर एजुकेशन, फतेहाबाद (हरयाणा)
३५९. ” ”	गवर्नमेंट एलीमेन्ट्री टीचर ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट, पंचकुला (हर.)
३६०. श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, शंकर नगर, रायपुर (छ.ग.)	जी. बी. पंत मेमोरियल शा. पी. जी. कॉलेज, बुशहर (हि.प्र.)
३६१. स्व. अश्वनी तिवारी, जरहाभाटा, बिलासपुर (छ.ग.)	वसन्त कन्या महाविद्यालय, कामाछा, वाराणसी (उ.प्र.)
३६२. सुश्री पूजा आसोपा, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक (राज.)	सेन्ट्रल लाइब्रेरी, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक (राजस्थान)
३६३. श्री एम. बी. जोशी, हल्द्वानी-नैनीताल (उत्तराखंड)	महन्त त्रिवेणी पर्वत संस्कृत महाविद्यालय, देवरिया (उ.प्र.)
३६४. डॉ. श्रीमती सुजाता सी. पावसकर, कारवार (कर्नाटक)	महाराजा जीवाजी राव शिंदे महाविद्यालय, अहमदनगर (महा.)
३६५. ” ”	गुरुसहाय देवशरण मेमोरियल कॉलेज, हरनौत, नालन्दा
३६६. ” ”	सालबरी कॉलेज, सालबरी, जिला - बक्सा (असम)
३६७. ” ”	डी. एम. कॉलेज ऑफ साईंस, इम्फाल वेस्ट, मणिपुर
३६८. ” ”	गवर्नमेंट जे. टी. कॉलेज, मैहर रोड, नागोद, सतना (म.प्र.)

सारदां मोक्षदायिनीम्

ध्यायेच्चित्तसरोजस्थां सुखासीनां कृपामयीम् ।
प्रसन्नवदनां देवीं द्विभुजां स्थिरलोचनाम् ।।
आलुलायितकेशार्धवक्षःस्थलविमण्डिताम् ।
श्वेतवस्त्रावृतार्धांगां हेमालङ्कारभूषिताम् ।।
स्वक्रोडन्यस्तहस्तां च ज्ञानभक्तिप्रदायिनीम् ।
शुभ्रां ज्योतिर्मयीं जीवपापसन्तापहारिणीम् ।।
रामकृष्णगतप्राणां तन्नामश्रवणप्रियाम् ।
तद्भावरञ्जिताकारां जगन्मातृस्वरूपिणीम् ।।
जानकीराधिकारूपधारिणीं सर्वमङ्गलाम् ।
चिन्मयीं वरदां नित्यां सारदां मोक्षदायिनीम् ।।

– हृदयकमल में सुखासन में बैठी कृपामयी, प्रसन्नवदना, दो भुजाओंवाली, स्थिर नेत्रोंवाली ध्यानस्थ देवी का ध्यान करें, जिनके अर्द्ध घुँघराले बाल वक्षस्थल पर विराजित हैं, अर्द्धांग श्वेत वस्त्रावृत है और स्वर्णालंकार से विभूषित हैं, कर-कमल जिनकी गोद में संस्थापित हैं, जो ज्ञान-भक्ति प्रदायिनी, शुभ्रवर्णो वाली, ज्योतिर्मयी और सर्वजीवसंतापहारिणी हैं । जो रामकृष्णगतप्राणा हैं, जिन्हें रामकृष्ण-नाम सुनना बहुत प्रिय है, जो उनके भाव में अनुरंजित और जगन्माता हैं । जो सीता-राधा का रूप धारण करनेवाली, चैतन्यमयी, वरदायिनी, आद्याशक्ति और प्राणियों को मोक्षप्रदान करने वाली हैं ।

पुरखों की थाती

सद्भिः तु लीलया प्रोक्तं शिलालिखितमक्षरम् ।
असद्भिः शपथेनोक्तं जले लिखितमक्षरम् ।।५७८।।

– साधु-सज्जन लोग यदि हँसी में भी कोई बात कह दें, तो वह पत्थर पर लकीर की भाँति विश्वसनीय है; परन्तु यदि दुष्ट लोग शपथ लेकर भी कोई बात कहते हैं, तो पानी पर लिखे अक्षर की भाँति क्षणिक होता है ।

स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ ।
दिगम्बरः कथं जीवेत् अन्नपूर्णा न चेद्गृहे ।।५७९।।

– जो शंकरजी, स्वयं ही पाँच मुखोंवाले हैं और जिनके एक पुत्र हाथी के मुखवाले (गणेश) तथा दूसरे छह मुखोंवाले (कार्तिकेय) हैं, यदि साक्षात् अन्नपूर्णा ही उनकी गृहिणी न होतीं, तो ऐसे दिगम्बर शिव की गृहस्थी भला कैसे चलती !

स्वयं महेशः श्वशुरो नगेशः
सखा धनेशश्च सुतो गणेशः ।
तथापि भिक्षाटनमेव शम्भोः
बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ।।५८०।।

– जो शंकरजी स्वयं ही महेश्वर हैं, जिनके ससुर पर्वतराज हिमालय हैं, जिनके मित्र कुबेर हैं और पुत्र श्रीगणेश हैं; तथापि उन्हें भिक्षा से अपनी आजीविका चलानी पड़ती है । यह देखकर ईश्वर की इच्छा को ही सबका कारण मानना पड़ता है ।

विविध भजन

राम-नाम सुखधाम

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

श्रीराम जपो, श्रीराम जपो, श्रीराम जपो श्रीराम ।
राम-नाम जपने से सबके पूरे होते काम ।।

सदा सर्वदा राम-नाम की महिमा अमित अपार ।
राम-नाम में नित्य निहित है अग जग का उपचार ।
नारद की वीणा में झंकृत राम-नाम अभिराम ।
श्रीराम जपो, श्रीराम जपो, श्रीराम जपो श्रीराम ।।

राम-नाम शिव जपते रहते उर में धरते ध्यान ।
ब्रह्म राम से भी बढ़कर है राम नाम बलवान ।
वेद-पुराण सभी गूँजे राम-नाम अविराम ।
श्रीराम जपो, श्रीराम जपो, श्रीराम जपो श्रीराम ।।

मंगलभवन अमंगलहारी राम-नाम सुख मूल ।
राम-नाम से कट जाते हैं भव के सारे शूल ।
राम-नाम के बिना न कोई पा सकता विश्राम ।
श्रीराम जपो, श्रीराम जपो, श्रीराम जपो श्रीराम ।।

राम-नाम ही महामन्त्र है भव से देता तार ।
राम-नाम से गणिका का भी हुआ सहज उद्धार ।
राम-नाम रसपान करो नित जो जग में बिन दाम ।
श्रीराम जपो, श्रीराम जपो, श्रीराम जपो श्रीराम ।।

सब नामों में राम-नाम है नित्य नवल मधुमास ।
राम-नाम भर देता जन के जीवन में उल्लास ।
है 'मधुरेश' सभी को सब दिन रामनाम सुखधाम ।
श्रीराम जपो, श्रीराम जपो, श्रीराम जपो श्रीराम ।

मुख सुमिरत सीताराम

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

तेरे कोउ न आवे काम समझ ले मेरे मनुआँ ।
दिन द्वै को जग में मुकाम समझ ले मेरे मनुआँ ।।
जब घड़ी मौत की आवै, तब तू तन छोड़ सिधावै ।
सब पड़े रहे धन धाम । समझ ले मेरे ...
हिय भाव भक्ति को भरिलै, नित नाम कीर्तन करिलै ।
तो पावोगे आराम ।। समझ ले मेरे ...
'राजेश' रोग नहीं घेरे, नहिं संकट आवै नेरे ।
मुख सुमिरत सीताराम । समझ ले मेरे ...

रामकृष्ण के गुन गाया करो

कमल सिंह सोलंकी 'कमल'

जीवन में सदा मुस्कराया करो ।
गीत गाया करो, गुनगुनाया करो ।।
मत फँसो तुम कभी मोह के जाल में,
माया हुई न किसी की किसी काल में ।
रामकृष्ण के गुन गाया करो,
गीत गाया करो, गुनगुनाया करो ।।
लोभ-लालच नहीं त्याग वैराग्य हो,
सत्य का अनुसरण छवि बेदाग हो ।
हरि के चरणों में मन को लगाया करो,
गीत गाया करो, गुनगुनाया करो ।।
दीन-दुखियों की सेवा में तत्पर रहो ।
भाईचारा हो मिलकर परस्पर रहो ।
प्रेम से जग को अपना बनाया करो,
गीत गाया करो, गुनगुनाया करो ।।
पूर्ण सन्तोष से शान्ति मिलती यहाँ ।
ज्ञान गीता से भ्रम भ्रान्ति मिटती यहाँ ।।
कमल सत्संग में नित्य जाया करो,
गीत गाया करो, गुनगुनाया करो ।।

सम्पादकीय

ज्ञानप्राप्ति की विलक्षण प्रणाली : प्रश्न प्रणाली

मानव-जीवन सुदुर्लभ है। यह परमात्मा का जीव को कृपा करके दिया हुआ सर्वोत्तम उपहार है। इसकी विशेषता यह है कि उसमें धर्मपरायणता है। उसे ईश्वर द्वारा बुद्धि, विवेक प्राप्त है। उसे कर्तव्य-अकर्तव्य, अच्छे-बुरे, नित्य-अनित्य, वस्तु-अवस्तु का बोध है। वह इस विवेक द्वारा ही उपरोक्त बातों का विश्लेषण कर सन्मार्ग पर चलता है और अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

मानव-जीवन का लक्ष्य परम ज्ञान को प्राप्त करना है, जिससे उसकी अज्ञानता नष्ट हो जाय और वह ज्ञानालोक में अपने जीवन को सम्यक् संचालित कर सके और अज्ञानजनित दुखों से मुक्ति प्राप्त कर आनन्दित रह सके।

आध्यात्मिक जीवन में उच्चतम सोपानों पर अग्रसर होने के लिये हो, चाहे भौतिक जीवन में सुखी जीवन व्यतीत करने के लिये हो, दोनों का ज्ञान आवश्यक है। तद्विषयक वस्तु के सम्यक् ज्ञान से ही हम वास्तविक वस्तु को पहचानते हैं, उसका सदुपयोग करते हैं और प्रतिक्रियात्मक विसंगतियों की हानि से अपनी और दूसरों की रक्षा करते हैं। इस ज्ञानार्जन की अनेक विधियाँ हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।४/३४।।

– उस ज्ञान को तत्त्वदर्शी महात्माओं के पास जाकर उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर विनम्र जिज्ञासा से, उनकी निष्ठापूर्वक सेवा से प्राप्त करो। वे तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश देंगे।

ज्ञानप्राप्ति हेतु कई विधियों में एक विधि है प्रश्न प्रणाली। अन्य प्रणालियों में हमें बहुत कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है। लेकिन इसमें ज्ञानार्थी को अपनी तीक्ष्ण श्रद्धामयी बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। यह प्रश्न प्रणाली भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञानार्जन में बहुत सहायक है। इसलिये हम इस प्रश्नात्मक ध्वनि को लोकसंस्कृति से लेकर वेद और उपनिषद् की ऋचाओं तक में ध्वनित पाते हैं। यह प्रणाली संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य, लोकसाहित्य और लोकाचारों आदि में दृष्टिगोचर होती है।

केनोपनिषद में ऋषि के अन्तःकरण से प्रथम मन्त्र अभिव्यक्त हुआ –

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति

चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।

भावार्थ – किससे प्रेरित होकर मन विषयों की ओर जाता है? किससे प्राण-क्रिया संचालित होती है? वाणी किससे क्रियाशील होती है? और कौन देवता नेत्र और कर्णेन्द्रियों को उनके कार्यों में लगाते हैं? प्रस्तुत मन्त्र 'केन' अर्थात् किससे प्रश्न वाचक शब्द से ही प्रारम्भ हुआ है।

आदिशंकराचार्य की प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका में **कथं तरेयं भवसिन्धु जालं –** अर्थात् मैं कैसे संसार-समुद्र को पार कर सकता हूँ, ऐसी जिज्ञासा शिष्य के द्वारा की गई है।

हिन्दी साहित्य की एक विधा ही है कि जब रचनाकार को अपनी बात कहनी होती है, तब वह कल्पना के नायक-नायिका का निर्माण करता है और प्रश्नोत्तर के माध्यम से अपनी बात प्रस्तुत करता है। 'मगध-महिमा' काव्य-नाटिका में कल्पना नायिका प्रश्न पूछती है –

यह किस तापस की समाधि है?

किसका यह उजड़ा उपवन है?

ईंट-ईंट हो बिखर गया यह,

किस रानी का राजभवन है?

यहाँ भी कवि ने प्रश्न-प्रणाली के द्वारा ही अपना तथ्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वास्तव में प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और यथार्थ तथ्य को ज्ञात करने की रुचि का द्योतक है। प्रश्न ज्ञानपिपासा का प्रतीक है। प्रश्न मानव के मन की सक्रियता, सजगता का प्रतीक है। प्रश्न मानव में अन्तर्निहित ज्ञाननिष्ठा की अभिव्यक्ति का साधन है। प्रश्न से मानव की बुद्धि की तीक्ष्णता की झलक मिलती है। प्रश्न के विषय जिज्ञासु के मानसिक स्तर के परिचायक हैं।

लोक संस्कृति में, लोकव्यवहार में देखा जाता है कि व्यक्ति को कोई नई चीज देखते ही उसके बारे में जानने की इच्छा होती है। जब हम बस, रेलगाड़ी या हवाई जहाज में यात्रा करते हैं, तब देखते हैं, लोग किसी स्थान, किसी आकर्षक भवन या कारखाने को देखकर पूछते हैं, यह क्या है? किसी व्यक्ति से मिलने पर पूछते हैं, आप कहाँ जा रहे हैं? आपका नाम क्या है? आप क्या करते हैं? इत्यादि।

गाँव की सीधी सरल माताएँ जब गीत गाती हैं, तो उनके लोकगीत सोहर, झुमरी भी प्रश्न से आरम्भ होते हैं। जैसे –

कहँवा में रामजी जनमनी त कहाँ उठे सोहर हे।
ललना कहँवा में भइले विआह केहो गावे मंगल हे।।
अजोधा में रामजी जनमनी महलिआ उठे सोहर हे।
ललना मिथिला में भइले विआह सखी गावें मंगल हे।।

इस गीत की प्रथम दो पंक्तियों में प्रश्न है, तीसरी, चौथी पंक्ति में उसका उत्तर दिया गया है। इस प्रकार प्रश्न प्रणाली से ज्ञान का विस्तार लोक संस्कृति में भी प्रचलित है।

छात्र-जीवन में अँग्रेजी व्याकरण की एक पुस्तक में पढ़ा था – "जो लोग हमेशा क्या, क्यों और कैसे पूछते रहते हैं, वे शीघ्र ही सीख जाते हैं।" इस सम्बन्ध में एक पुरानी घटना मुझे याद आ रही है। तब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। एक दिन बस से जिला-शहर में जा रहा था। मेरे पास की सीट पर स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. जनार्दन सिंह जी बैठे हुये थे। उनकी गोद में उनकी २ वर्ष की बच्ची थी। वह रास्ते में जो भी देखती, तो पूछती, पापाजी, यह क्या है? यह ऐसा क्यों है? यह घर छोटा और वह बड़ा क्यों है? वह बच्ची रास्ते भर, धान की फसल, बड़े-बड़े विभिन्न प्रकार के वृक्षों, कोल्ड स्टोर, भवन, गाड़ी आदि बहुत-सी चीजों के बारे में लगभग डेढ़ घंटे तक पूछती ही रही और सिंहजी बड़े प्रेम और धैर्य से उसे सब कुछ बताते रहे। अन्त में उसने एक प्रश्न से हम सबको हँसा दिया। उसने पूछा, पापाजी, उस दीदी के सिर के बाल इतने बड़े और हमारे इतने छोटे क्यों हैं? हमें भी आज ही अपने बाल बड़े करवाने हैं। प्रोफेसर साहब ने उसे पहले की ही भाँति उत्तर से सन्तुष्ट कर दिया। उन्होंने कहा, जब तुम उतनी बड़ी होगी, तो तुम्हारे बाल भी उतने बड़े हो जायेंगे। बच्ची अपने प्रश्नों के उत्तर पाकर प्रसन्न रही। बाल-मन में बड़ी अदम्य जिज्ञासा और संतोषजनक उत्तर की अपेक्षा रहती है।

जिज्ञासा समाधान चाहती है। प्रश्न उत्तर की अपेक्षा रखता है। यदि प्रश्न का समुचित संतोषजनक उत्तर नहीं मिले, तो कुंठित होकर जिज्ञासा की सक्रिय मनोवृत्ति नष्ट हो जाती है, जो मानव की ईश्वरप्रदत्त सम्पत्ति है। तब व्यक्ति के सारे विकास-मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। मैंने कोलकाता की एक घटना सुनी थी। बेलूड़ मठ में गंगाजी प्रवाहित होती हैं। गंगाजी में बहुत-सी नावें चलती रहती हैं। एक पाँच वर्ष का लड़का उन नावों को देख रहा था। छोटी नावें थीं, बड़ी नौका थी, लॉन्च थे। वहाँ नौका को भटभटी भी कहते हैं। उस लड़के ने अपने पिताजी से पूछा, "बाबा, भटभटी के भटभटी केनो बोले?" अर्थात् भटभटी को भटभटी क्यों कहते हैं? उसके पिताजी ने डाँटते हुए कहा, "चुप करो, कथा बोले-बोले विरक्त करे दियेछे।" – चुपचाप रहो, बोल-बोलकर परेशान कर दिया है। पिताजी की क्रोधित मुख-मुद्रा को देखकर लड़का चुप हो गया। लेकिन मुझे लगता है कि अभिभावक की यह मनोवृत्ति ठीक नहीं है। बच्चों के मन में अच्छी जिज्ञासा होने पर, उनके द्वारा किसी विषय पर प्रश्न पूछने पर उनका यथोचित बोधगम्य उत्तर देना चाहिये और उसे अधिक पूछने को प्रोत्साहित करना चाहिये।

मन में प्रश्न उदित होने के कारण ही तो इतने आविष्कार हुये। मन में प्रश्न ही तो उठा था कि यदि चिड़िया आकाश में उड़ सकती है, तो ऐसे डैनेवाला यन्त्र क्यों नहीं? इसी से हवाई जहाज का निर्माण हुआ। सेव वृक्ष के नीचे बैठे न्यूटन के मन में प्रश्न ही तो उठा कि यह सेव नीचे क्यों आया? यह ऊपर क्यों नहीं गया? इसी से गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की उन्होंने गवेषणा की। शास्त्रार्थ-परम्परा में विद्वानों द्वारा प्रश्न-प्रतिप्रश्न और उनके उत्तर-प्रत्युत्तर से ज्ञान-प्रसारण और ज्ञानार्जन ही प्रयोजन था।

श्रीरामकृष्ण से स्वामी विवेकानन्द ने तत्त्वजिज्ञासा ही तो की थी, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" शिष्य की तत्त्वान्वेषी विकलता में श्रीरामकृष्ण के ऐतिहासिक उत्तर साधक-जीवन के संशयों को निर्मूल कर आत्मसाक्षात्कार कराने में परम सहायक हैं। उन्होंने कहा, "हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है, ठीक जैसे तुमलोगों को देखता हूँ, बल्कि इससे भी अधिक स्पष्टता से। ... तुमलोगों को देख रहा हूँ, तुम लोगों से जैसे बातचीत कर रहा हूँ, वैसे ही ईश्वर को देखा जाता है और उनसे बात की जा सकती है...।" इस प्रकार प्रश्न-प्रणाली भौतिक शिक्षार्जन, आध्यात्मिक ज्ञानार्जन और ज्ञानानुभूति में परम सहायक है। ○○○

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (१२)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

[निवेदिता ने अपने जीवन के इस महा-सौभाग्य की बात को कभी विस्मृत नहीं किया था कि वे एक विराट् पुरुष का उनकी चरम अनुभूति के तत्काल बाद ही दर्शन कर सकी थीं। परवर्ती काल की चर्चाओं तथा विभिन्न रचनाओं में उन्होंने इस सौभाग्य की बात प्रकट की है। 'स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण' ('The Wanderings ...') ग्रन्थ के पूरे दसवें परिच्छेद में इस अमरनाथ-यात्रा तथा स्वामीजी के शिव-दर्शन की बातों का वर्णन है। 'The Master ...' ('मेरे गुरुदेव : जैसा मैंने देखा') ग्रन्थ के आठवें अध्याय का 'अमरनाथ' शीर्षक है। निवेदिता के जीवन में इस तीर्थयात्रा के महत्त्व की बात का स्मरण रखते हुए हम उनके द्वारा लिखित यात्रा-विवरण का कुछ अंश उद्धृत करते हैं। यह सूचित किया जा सकता है कि अमरनाथ के मूल पथ पर यात्रा १८९८ ई. के २९ जुलाई को आरम्भ होकर ८ अगस्त को श्रीनगर लौटकर समाप्त हुई।]

अच्छाबल में हमें जहाँगीर के और भी कई उद्यान देखने को मिले। ... उसके बाद हमने प्रथम उद्यान में भोजन किया...। दोपहर में जब हम वहाँ बैठकर भोजन कर रहे थे, तभी स्वामीजी ने अपनी कन्या को अपने साथ अमरनाथ जाकर शिव के चरणों में निवेदित होने का निमंत्रण दिया।

२९ जुलाई। इसके बाद हम स्वामीजी को बहुत कम देख सके। वे इस तीर्थयात्रा के बारे में बड़े उत्साहित थे, बहुधा एकाहार करते थे और साधुओं के अतिरिक्त अन्य किसी का संग पसन्द नहीं करते थे। कभी-कभी वे हाथ में माला लिये शिविर-क्षेत्र में आते। आज रात हमारी टोली के दो सदस्य बवन नामक स्थान के चारों ओर घूमकर देखने गये। वह स्थान एक ग्रामीण मेले के समान था, जिसमें पवित्र सोतों को केन्द्र बनाकर सब कुछ धार्मिक प्रवृत्तियों से मण्डित कर दिया गया था। बाद में हम धीरामाता के साथ तम्बू के दरवाजे तक गयीं और वहाँ जो हिन्दी-भाषी साधुओं की भीड़ स्वामीजी से प्रश्न-पर-प्रश्न करती जा रही थी, उनके बीच हो रहे वार्तालाप को हमने सुना।

गुरुवार को हम लोग पहलगाम पहुँचे और घाटी की निचली छोर पर अपना तम्बू लगाया। हमने पाया कि हमारे वहाँ प्रवेश के प्रश्न पर स्वामीजी को बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। उन्हें नागा साधुओं का समर्थन प्राप्त था, जिनमें से एक ने कहा, "स्वामीजी, यह सत्य है कि आपमें शक्ति है, परन्तु उसे व्यक्त करना उचित नहीं।" यह सुनकर वे चुप रह गये। तथापि अपराह्न के समय वे अपनी कन्या (निवेदिता) को आशीर्वाद दिलाने के निमित्त, उसे साथ लेकर भिक्षा का वितरण कराते शिविर में घूमे। ... अगले दिन हमारे तम्बुओं को शिविर के शीर्षस्थान पर स्थित एक सुन्दर पहाड़ी पर लगा दिया गया। ...

('द मास्टर...') ग्रन्थ में स्वामीजी की चर्चाएँ अधिक विस्तार के साथ उपलब्ध हैं – यात्रियों में विभिन्न सम्प्रदायों के सैकड़ों साधु-संन्यासी थे। उनके तम्बू गेरुए रंग के थे। उनमें से कुछ के आकार एक बड़े छत्ते से अधिक नहीं थे। साधुओं के ऊपर स्वामीजी का प्रभाव मानो विद्युत् के समान था। अपेक्षाकृत विद्वान साधु लोग प्रत्येक विश्राम-स्थान पर उन्हें घेरकर बैठ जाते; उनका तम्बू भर जाता और जब तक दिन की रोशनी रहती, तब तक वे लोग चर्चाओं में मग्न रहते। स्वामीजी ने बाद में हमें बताया था कि 'शिव' ही उनकी चर्चाओं के विषय थे। स्वामीजी जब बीच-बीच में बाह्य जगत् की ओर उन लोगों का ध्यान आकृष्ट करते, तो वे लोग गम्भीरतापूर्वक उनकी भर्त्सना करते। वे लोग जोर देकर कहते – विदेशी लोग भी मनुष्य हैं, स्वदेश और विदेश के बीच भला भेद क्यों करना! दूसरी ओर उनमें से अनेक स्वामीजी के मुसलमान धर्म के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति का तात्पर्य नहीं समझ पाते। जिस परमार्थ-भाव के चलते उनके मन में स्वदेश और विदेश के बीच कोई भेद नहीं था, वही जागतिक क्षेत्र में इन सरलप्राण लोगों के मन में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच औपचारिक एकता की कल्पना तक बाधक था। उनका तर्क था कि पंजाब की धरती धर्म के लिये प्राण देने वालों के खून से सनी हुई है। कम-से-कम इस

क्षेत्र में तो स्वामीजी को संकीर्ण कट्टरता का पालन करना चाहिये। इसके उत्तर में स्वामीजी सामयिक रूप से कुछ ऐसे आचरणों से विरत हुए, जिससे उनके भ्रातृस्थानीय साधुओं के प्रति प्रीति का परिचय मिला, जो दूसरी ओर इन 'वर्तमान में प्रक्षेपित भविष्य-रूपी मनुष्य' (स्वामीजी) के विचारों को और भी अधिक दृढ़ तथा गहन रूप से अंकित करने में सहायक हुआ था। इन गरम वाद-प्रतिवादों के समय हमारी विदेशी बुद्धि एक तरह की विचित्र विरोधाभास देखकर आमोद का बोध किये बिना नहीं रह सकी और वह यह था कि स्वयं इस यात्रा का तहसीलदार और अन्य अनेक कर्मचारी तथा नौकर मुसलमान थे; और अन्ततः गुहा में पहुँच जाने पर हिन्दू तीर्थयात्रियों के साथ ही इनके भी प्रवेश करने की बात पर आपत्ति करने की बात किसी के स्वप्न तक में उदित नहीं हुई थी। वैसे तहसीलदार ने बाद में अपने मित्रों की टोली के साथ स्वामीजी के पास आकर उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिये जाने का अनुरोध किया था; और इस घटना में भी किसी को कुछ भी असंगत या विस्मयजनक नहीं लगा था।

३० जुलाई। प्रात:काल छह बजे हम लोगों ने जलपान किया और चल पड़े। हम लोग अनुमान नहीं कर सके कि शिविर का स्थानान्तरित होना कब आरम्भ हुआ, क्योंकि जब हम बड़े सबेरे जलपान कर रहे थे, तब भी बहुत कम यात्री या तम्बू बचे हुए थे। कल जिस स्थान पर एक हजार लोग अपने कैनवास के घरों में ठहरे थे, उसके चिह्न के रूप में वहाँ केवल बुझे हुए अलावों की राख ही शेष थी।

हमारे अगले पड़ाव चन्दनबाड़ी का रास्ता क्या ही सुन्दर था! वहाँ हम लोगों ने एक दर्रे के छोर पर अपना तम्बू लगाया। पूरे अपराह्न भर वर्षा होती रही और स्वामीजी केवल पाँच मिनट के लिए बातें करने मेरे पास आये। परन्तु सेवकों तथा अन्य तीर्थयात्रियों की हार्दिक उदारता के मुझे असंख्य उदाहरण मिले। ...

यात्रा का दूसरा चरण अन्य सभी से काफी कठिन था। लगता था कि यह कभी समाप्त ही न होगा। चन्दनबाड़ी के निकट स्वामीजी ने इस पहले हिमनद को मेरे पैदल ही पार करने पर जोर दिया और रुचि की सभी बातों का विवरण देते रहे। हमारा अगला अनुभव था – कई हजार फीट की भयंकर चढ़ाई। इसके बाद एक सँकरी पगडण्डी पर पहाड़ियों के इर्द-गिर्द घूमते हुए चलते रहना और अन्त में एक और खड़ी चढ़ाई। पहली पहाड़ी के ऊपरी भाग की सतह पर एडेलविस (Edelwiess) नामक छोटी-छोटी घासों का मानो गलीचा बिछा था। उसके बाद से रास्ता शेषनाग के गतिहीन जल से पाँच सौ फीट की ऊँचाई से होकर चला गया है। अन्त में हम लोगों ने हिमशिखरों के बीच १८,००० फीट की ऊँचाई पर स्थित एक ठण्डे नम स्थान में अपना तम्बू लगाया। फर के वृक्ष बहुत नीचे थे और पूरे अपराह्न तथा संध्या तक कुलियों को जूनीपर की लकड़ियाँ इकट्ठी करनी पड़ी। तहसीलदार, स्वामीजी तथा मेरे तम्बू एक-दूसरे के पास लगे थे और संध्या के समय सामने एक बड़ा अलाव जलाया गया। परन्तु वह अच्छी तरह नहीं जल रहा था और हिमनद बहुत नीचे रह गया था। शिविर लगने के बाद मैंने फिर स्वामीजी को नहीं देखा।

पाँच सोतों का मिलनस्थल – 'पंचतरणी' का मार्ग उतना लम्बा न था, तथापि यह शेषनाग से नीचा था और वहाँ की ठण्ड शुष्क तथा आनन्ददायी थी। शिविर के सम्मुख कंकड़ियों से भरी एक सूखी नदी का पाट था, जिससे होकर बहनेवाले पाँचों सोतों में, भीगे वस्त्रों में ही एक-एककर सभी में जाकर स्नान करना प्रत्येक यात्री का कर्तव्य था। स्वामीजी ने अन्य लोगों की नजर बचाकर यथाविधि प्रत्येक सोते में स्नान किया। ...

इन ऊँचे स्थानों में हम प्राय: ही अपने आपको चारों ओर से उन हिमशिखरों से घिरा हुआ पाते थे, जिन्होंने हिन्दू मानस को भस्माच्छन्न शिव का भाव दिया है। **(क्रमशः)**

हमारे हृदय में प्रेम, धर्म और पवित्रता का भाव जितना बढ़ता जाता है, उतना ही हम बाहर प्रेम, धर्म और पवित्रता देख सकते हैं। हम दूसरों के कार्यों की जो निन्दा करते हैं, वह वास्तव में हमारी अपनी ही निन्दा है। तुम अपने क्षुद्र ब्रह्माण्ड को ठीक करो, जो तुम्हारे हाथ में है, वैसा होने पर बृहद् ब्रह्माण्ड भी तुम्हारे लिए अपने-आप ठीक हो जायेगा।

– स्वामी विवेकानन्द

यथार्थ शरणागति का स्वरूप (३/४)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्‌घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है । – सं.)

भक्ति की समग्र व्याख्या अगर एक ही वाक्य में कोई समझना चाहे, तो यही है कि हमें भगवान के चरणों को यहीं पाना है, चरणों में रति पानी है। यह रति तो संसार में प्रत्येक संसारी व्यक्ति को प्राप्त होती है, पर वह अविरल नहीं होती, विरल होती है। उसे अविरल भी होना है और उसके साथ-साथ उसे अमल भी होना है। संसार की रति में वासना का मल है। उसके साथ यह भी समस्या रहती है कि जो वस्तु पुरानी होती जाती है, उसके प्रति आकर्षण भी समाप्त होते जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है न ! और यह साधना का एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण पक्ष है कि साधना करते समय, विशेष रूप से भक्ति की साधना में हमारे अन्त:करण में यान्त्रिकता आती जाय, शुष्कता आती जाय, तो इसका अर्थ है कि उसमें एक बहुत बड़ी कमी हो गई। क्रिया तो यंत्र के द्वारा भी हो सकती है। उसका अभिप्राय यह है, देखा जाता है कि कभी-कभी मूर्ति की पूजा करते-करते दर्शन करनेवाला व्यक्ति गद्‌गद हो जाता है और पुजारी के अन्त:करण में मूर्ति के प्रति कोई आकर्षण ही नहीं रह जाता। वह नित्य देख रहा है, सर्वदा देख रहा है, मैं सभी पुजारियों के लिये नहीं कह रहा हूँ, ऐसा कोई बुरा न मान जायँ। पर ऐसी सम्भावना कभी हो भी सकती है। वक्ता कथा सुनाते हुए श्रोताओं को गद्‌गद कर देता है, पर स्वयं वह तो एक यन्त्र की भाँति कहता है, इसलिये उसके कहने में आनन्द नहीं आता है, स्वयं उसको उस रस की अनुभूति नहीं होती, बार-बार उस कथा को कहते-कहते, उसी को दुहराते रहने के कारण, उसमें एक पुरानेपन की नीरसता आ जाती है। यदि नित्यरस की अनुभूति नहीं हो रही हो, शुष्क, यंत्र की तरह कोई कार्य कर दे, सेवा कर दे, तो यह बहुत फलदायी नहीं होता। इसलिये माँ ने लक्ष्मणजी को भक्ति का आशीर्वाद दिया। ऐसे महान लक्ष्मण जी हैं। वे तो शरीर में बैठे हुए नहीं हैं। कहते हैं –

राम बिलोकि बंधु कर जोरें।

देह गेह सब सन तृनु तोरें।। २/६९/६

देह से ऊपर, गेह से ऊपर, अब उन लक्ष्मणजी के सामने अगर कोई कहे कि देह को, समुद्र को मनाइए, प्रार्थना कीजिए, तो उन वैराग्यवान को शरीर का क्या महत्त्व है? भगवान बुद्ध का प्रसिद्ध वाक्य है – **इहासने शुष्यतु मे शरीरम्**। भगवान बुद्ध उस वृक्ष के नीचे बैठे थे। उन्होंने कहा, इसी आसन पर मेरा शरीर शुष्क होकर नष्ट हो जाय, पर हम जब तक इस परम सत्य का, परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर लेते हैं, तब तक यहाँ से नहीं उठेंगे। देह की क्या सार्थकता है? उतावलापन, विलम्ब क्यों? लक्ष्मणजी ने प्रभु से कहा, अगर आपको भक्तिरूपा, शान्तिरूपा श्रीसीताजी को प्राप्त करना है, तो विलम्ब मत कीजिए। क्या आवश्यकता है, इस शरीर को संतुष्ट करने की, समुद्र-शरीर को मनाने की। आपके पास दिव्य बाण हैं, भस्म कर दीजिए, समुद्र समाप्त हो जायेगा। प्रभु ने सुना, खूब हँसे, बहुत हँसे, आनन्द आया। पर प्रभु का तो अपना एक अद्‌भुत शील है। उनके सामने दो व्यक्ति थे। एक उनका अपना छोटा भाई, दूसरा उनके शत्रु का छोटा भाई। संसार में जब ऐसा चुनाव करना हो, तो व्यक्ति अपने छोटे भाई पर ही विश्वास करेगा। पर प्रभु ने शत्रु के भाई की बात सुनी और बोले –

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। ५/५०/१

वाह, तुमने तो बड़ी अच्छी बात कही। मैं तुम्हारी बात मानता हूँ। अपने भाई के असंतोष को देखकर खूब हँसे। हँसने का अर्थ यह है, मानो लक्ष्मण से वे कहते हैं कि लक्ष्मण, तुम्हारे रहते मुझे चिन्ता किस बात की है, मुझे अब करना ही क्या है? मुझे देखकर तो तुम क्या, कोई भी मुझे आलसी ही कहेगा। ऐसा विश्वास भी था प्रभु को लक्ष्मणजी पर। सुग्रीव से कह भी दिया था –

जग महुँ सखा निसाचर जेते।

लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते। ५/४३/७

लक्ष्मण तो निमेष मात्र में उनका संहार कर सकता है। इसीलिये लक्ष्मणजी की बात को सुनकर हँसते हुए उन्होंने कहा –

सुनत बिहसि बोले रघुबीरा।

ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा।। ५/५०/५

तुम जो कह रहे हो, वैसा ही करेंगे, थोड़ा धैर्य धारण करो। इस तरह से दोनों पक्ष आते हैं। वहाँ पर एक अनोखी बात हुई। तीन दिन प्रार्थना करने के बाद भी जब समुद्र की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो प्रभु ने फिर लक्ष्मणजी की ओर देखा। बोले –

लछिमन बान सरासन आनू।

सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू।। ५/५७/१

लक्ष्मण, जरा लाना तो धनुष-बाण। इस समुद्र को मैं अग्निबाण से सुखा दूँ। उसके बाद उन्होंने जो शब्द कहना प्रारम्भ किया –

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती।

सहज कृपन सन सुंदर नीती।।

ममता रत सन ग्यान कहानी।

अति लोभी सन बिरति बखानी।।

क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा।

ऊसर बीज बएँ फल जथा।।

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा।

यह मत लछिमन के मन भावा।। ५/५७/२-५

जब प्रभु ने धनुष पर बाण चढ़ाया, तो बड़े प्रसन्न हुए लक्ष्मणजी। पर प्रश्न यह है कि प्रभु ने समुद्र को कुलगुरु मान लिया था। कुलगुरु मानकर ही तो प्रार्थना कर रहे थे। और वही प्रभु कुछ दिनों बाद सठ, दुष्ट कह रहे हैं, 'सठ सन बिनय' । अब प्रश्न यह है कि समुद्र गुरु है कि दुष्ट है? देह का समुद्र अगर सामने है, तो हम देह को गुरु मानें कि दुष्ट मानें? बस सूत्र वही है। देह यदि हमें शीघ्र से शीघ्र लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायक बनता है, तो गुरु है। यही तो गुरु की भूमिका है। देह अगर हमारी साधना के मार्ग में विघ्न बनता है, हमें सीताजी तक पहुँचने में बाधक बनता है, तो वह सठ है, दुष्ट है। गोस्वामीजी का मीराजी के संदर्भ में वह पद प्रसिद्ध है। मीराजी एक ओर यह सोचती हैं कि परिवार के प्रति उनका कर्तव्य है, उसके साथ-साथ शास्त्र भी यही कहते हैं। दूसरी ओर अपनी पारिवारिक दशा का वर्णन उन्होंने गोस्वामीजी के पास अपना पद लिखकर भेजा –

मेरे मात पिता के सम हो हरि भक्तन सुखदाई।

घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।।

साधु संग अरु हरि भजन में देत कलेस सदाई।

बालपन ते मीरा कीन्हीं गिरधर लाल मिताई।।

सो तो अब छूटै नहिं छूटै लगी लगन बरिआई।

मीरा के प्रश्न का गोस्वामीजी ने उत्तर दिया, वह पद प्रसिद्ध है –

जाके प्रिय न राम बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।

तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु,

भरत महतारी। वि. प. १७४

गोस्वामीजी ने कहा, जिन्हें श्रीराम-सीताजी प्रिय न हों, उन्हें कोटि शत्रु समझकर त्याग कर देना चाहिये। उसके बाद उन्होंने भक्तों का दृष्टान्त देते हुये कहा कि प्रह्लाद ने पिता का परित्याग कर दिया, विभीषण ने भाई का परित्याग कर दिया, भरतजी ने माँ का परित्याग कर दिया।

माता-पिता का, भाई का परित्याग कर दिया, पर गुरु का महत्त्व तो सर्वोच्च है। लेकिन उन्होंने तुरन्त कहा – 'बलि गुरु तज्यो'। बलि ने गुरु का भी परित्याग कर दिया। इसका अभिप्राय क्या है? भई, गुरु का वरण हम जिस उद्देश्य से करते हैं, वह तो ईश्वर की प्राप्ति के लिये है और गुरु अगर उसके विपरीत दिशा में ले जाने की चेष्टा करें, तो वह गुरु कैसे गुरु के रूप में ग्राह्य होगा? मान लीजिए, गुरु वैद्य हैं और वैद्य की दवा से अगर आपका रोग अधिक बढ़ जाय, आपको ऐसा लगे कि हम तो स्वस्थता की दिशा में नहीं बढ़ रहे हैं, तो क्या आप यही निर्णय करेंगे कि वैद्य तो महान हैं, दवा खाते रहना चाहिये? इसीलिये तो वह बात आती है न ! जब बलि की यज्ञशाला में भगवान आए, तो बलि तो नहीं पहचान पाए कि ये भगवान हैं, पर शुक्राचार्य जी बड़ी पैनी दृष्टि वाले थे। एक क्षण में पहचान गये कि ये भगवान विष्णु हैं। बलि ने प्रसन्न होकर कहा, मेरा सौभाग्य है, आपके जैसा ब्रह्मचारी आया, जो माँगना हो माँग लीजिए। बस, गुरुजी ने बलि के जंघे को अंगूठे से दबाया, चलो यहाँ से, एकान्त में कुछ कहना है। एकान्त में जाकर बलि ने पूछा, महाराज क्या बात है? शुक्राचार्यजी

ने कहा, तुम जानते हो, यह कौन है? नहीं महाराज, ये तो कोई ब्रह्मचारी हैं। शुक्राचार्यजी ने कहा, अरे ब्रह्मचारी नहीं, ये साक्षात् विष्णु भगवान हैं। बलि चरणों में गिर पड़ा। सचमुच शिष्य तो भगवान को नहीं पहचान पाता। वह तो गुरु ही पहचान पाता है और आप ने मुझे दिखा दिया, पहचान करा दिया। यहाँ तक तो बहुत बढ़िया बात रही, पर गुरुजी ने कहा कि ये तुम्हारी सारी सम्पत्ति लेकर इन्द्र को देने वाले हैं। तुम जाकर कह दो कि मैं नहीं दूँगा। ऐसा क्यों कह रहे हैं?

क्योकि दैत्य लोग बड़ा सम्मान और सेवा देते थे। तो उनका अभिप्राय यह था कि जब यजमान ही भिखारी हो जायगा, तो हमारी क्या सेवा करेगा? मानो शिष्य जो सुख सुविधा देता है, इसलिये उनका राज्य बना रहे, सम्पत्ति बनी रहे, हमारा सुख-सुविधा-सम्मान बना रहे। इसकी आसक्ति छूटनी तो बड़ी कठिन है। उसे छोड़ पाने की क्षमता उनमें नहीं है। उस समय बलि ने उनकी बात को यह मानकर स्वीकार नहीं कर लिया कि गुरु जी कह रहे हैं, ठीक है, इनकी आज्ञा मान लूँ। बलि ने कहा कि गुरुदेव, मैं तो धन्य हो गया कि ईश्वर यहाँ आये हैं। आप जब कह रहे हैं कि ये भगवान हैं, तो आपने तो मुझे बार-बार बताया है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं। अगर ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं, तो वे चाहते तो मुझसे राज्य छीनकर भी तो इन्द्र को दे सकते थे। छीनने के स्थान पर अगर माँगने आ गये, तो मुझ पर कृपा करके ही तो आए हैं। अब वह कौन अभागा होगा, जो इस अवसर का लाभ न उठावे? तब गुरुजी को क्रोध आ गया, गुरु की बात नहीं मानता है? जा तुझे शाप देता हूँ, तेरी सारी सम्पत्ति नष्ट हो जाय। अन्तत: वह प्रह्लाद का ही पौत्र था, शाप सुनकर दुखी नहीं हुआ। उन्होंने मुस्कुराकर कहा, अब तो स्पष्ट ही हो गया। देखिए न, आपको चिन्ता थी मेरी सम्पत्ति बचाने की, पर आपके मुँह से वही शाप निकला जो ईश्वर करना चाहते थे।

कभी-कभी बड़ा संकट आता है न ! दुर्योधन को जब भी कोई समझाने की चेष्टा करता था, तुम पाण्डवों से नहीं जीत सकते, तो दुर्योधन सर्वदा यही कहता था कि सोचो, मेरे सेनापति भीष्म हैं, जिन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त है। जब तक उनकी इच्छा नहीं होगी, उनकी मृत्यु नहीं हो सकती। जब तक वे मरेंगे नहीं, हम हार कैसे सकते हैं? उस अभागे दुर्योधन को यह पता नहीं था कि भीष्म को इच्छा-मृत्यु का वरदान तो है, पर इच्छा कराने वाला तो उधर था। जब उसने चाहा, तो भीष्म में भी इच्छा उत्पन्न कर दी। महाभारत में यही लिखा हुआ है कि दस दिन बाद भीष्म स्वयं यह सोचने लगे कि यह शरीर छूट जाय, तो अच्छा हो। क्योंकि इच्छा कराने वाले ने तो जितना दिन चाहा, उतने दिन युद्ध चलने दिया और जब चाहा तब शरीर-त्याग की इच्छा करा दी।

बलि ने यही कहा कि देखिए, ईश्वर की इच्छा कितनी प्रबल है, आपने भी वही कह दिया, जो ईश्वर चाहते थे। शुक्राचार्यजी ने उन्हें क्रोध में कह तो दिया, उसके बाद भी उनकी ममता नहीं गई। उन्हें चिन्ता हो गई कि मेरे यजमान की सम्पत्ति न जाय। मेरे मुँह से निकल गया तो क्या, पर यजमान की सम्पत्ति को तो बचाना चाहिये। तब कहा जाता है कि वे उस कमण्डलु के छिद्र में जाकर बैठ गये, जिसके जल से संकल्प बोला जाना था। एक नियम है, आप देखेंगे यज्ञ में, पूजापाठ में, यजमान से आचार्य संकल्प दिलाता है। संकल्प माने निर्णय करना कि इस उद्देश्य से मैं यह कार्य, पूजा-पाठ या यज्ञ करने जा रहा हूँ। पर कितनी बड़ी विडम्बना है, यहाँ पर संकल्प दिलाने वाला कोई व्यक्ति नहीं, स्वयं भगवान वामन के रूप में साक्षात् ईश्वर थे। क्योंकि आचार्यजी तो दिखाई नहीं दे रहे हैं। जाने कहाँ चले गये? भगवान बोले, कोई बात नहीं, आचार्य नहीं हैं, तो मैं ही संकल्प बोलवा लेता हूँ। मुझे भी तो मंत्रों का ज्ञान है। शुक्रचार्यजी वहाँ नहीं थे। बलि को लगा कि रुष्ट होकर कहीं चले गये। पर वे रुष्ट होकर कहीं नहीं गये थे। उनको इस कार्य में बाधा डालने का एक ही उपाय सूझा कि कमण्डलु का जल जब गिरेगा, तभी तो संकल्प पढ़ा जायेगा। मैं जल को ही नहीं गिरने दूँ। कमण्डलु में जो छिद्र है, उसमें पैठ जाऊँ, जल नहीं गिरेगा, तो संकल्प नहीं बोला जायेगा, यजमान की सम्पत्ति जायेगी नहीं। योजना तो बड़ी दूरगामी थी, लेकिन कैसी विचित्र विडम्बना है ! भई, कमण्डलु के छिद्र की सार्थकता यही है कि दान करते समय संकल्प के लिये जब जल गिराया जाय, तो जल गिरे। वैसे किसी बरतन में छिद्र हो जाय और उसमें रखा जल गिर जाय, तब तो छिद्र बड़ा दोष है, पर कमण्डलु में जब छिद्र बनाया जाता है, और उससे जल गिराया जाता है, तो जल गिराना तो बड़े पवित्र उद्देश्य से होता है। कमण्डलु के छिद्र का उद्देश्य तो पवित्र है। अब शुक्राचार्यजी उस छिद्र में ही जाकर बैठ गये। जब भगवान वामन ने संकल्प पढ़ने के लिये कमण्डलु का जल

गिराया, तो जल नहीं गिरा। उन्होंने सोचा कि छिद्र में कुछ फँस गया है, अत: उसे साफ करने के लिये बलि के हाथ में जो कुश था, उस कुश का नुकीला भाग लेकर कमण्डलु के छिद्र को साफ करने लगे और वह नुकीला कुश छिद्र में बैठे हुए शुक्राचार्य जी के नेत्र में लगा और उनकी वह आँख फूट गई। शुक्राचार्य जी निकल कर भागे और जल गिरने लगा। संकल्प बोला गया और कार्य सम्पन्न हुआ। बाद में उलाहना देते हुए शुक्राचार्यजी ने भगवान से कहा कि आपने मेरी आँख क्यों फोड़ दी? तो उन्होंने कहा कि मैंने कहाँ फोड़ी, वह तो तुम्हारे कुश ने ही तुम्हारी आँख फोड़ी। भगवान ने व्यंग्य में कहा – जब कोई बहुत पैनी बुद्धि वाला होता है, तो उसे संस्कृत में 'कुशाग्र बुद्धि' कहते हैं। जैसे कुश का अगला भाग नुकीला होता है। न तुम इतने कुशाग्र बुद्धि होते, न तुम मुझे पहचानते और न तुम्हारी यह दशा होती। तुम्हारे ही कुश से तुम्हारी आँख फूट गयी। सोचिए, कुश कहाँ से आया ? यजमान के द्वारा शुभ कार्य का संकल्प कराने आचार्य ही कुश लाकर उसके हाथ में देते हैं। कुश लाए थे शुभ कार्य के लिये और अब तुम स्वयं उसे शुभ कार्य से विरत करने की चेष्टा कर रहे हो, विघ्न उपस्थित कर रहे हो, दान न करने का उपदेश दे रहे हो। तुम गुरु हो, तुम्हारा कर्तव्य है शिष्य को यह शिक्षा देना कि दान करने से जीवन सार्थक होता है और तुम यह बात कह रहे हो कि यह ईश्वर है, इसे दान मत दो। इसलिये यह तुम्हारी कुशाग्रता, यह कुशाग्र दृष्टि फोड़ ही देने योग्य है। पूछ दिया, तो फिर एक ही क्यों? उन्होंने कहा कि मैंने यह सोच लिया कि ये जो दो नेत्र हैं, ये ज्ञान और वैराग्य के हैं। रामायण में लिखा हुआ है –

ग्यान बिराग नयन उरगारी। ७/११९/१४

एक नेत्र ज्ञान का और एक वैराग्य का है। प्रभु ने कहा, मैंने सोचा कि ज्ञान वाली आँख तो बिल्कुल ठीक है, जब पहचान लेती है, तो ज्ञान वाली आँख ही ठीक थी। किन्तु वैराग्य वाली आँख नकली थी, इसलिये उसका फूट जाना ही ठीक था। क्योंकि अगर वैराग्य वाली आँख ठीक होती, तो यजमान को यह शिक्षा नहीं देता कि दान मत दो। वैराग्य होता, तो त्याग और दान की शिक्षा देते। मानो गुरु, पिता, माता, ये सब-के-सब ईश्वर की दिशा में ले जाने के माध्यम ही हैं और होने चाहिये। इसलिये गोस्वामीजी यही उत्तर देते हैं – **बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितन्हि भये मुद-मंगलकारी। (क्रमशः)**

प्रेरक लघुकथा

समता सिखावे ममता

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म एक धनाढ्य परिवार में हुआ था। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर कलकत्ता के प्रसिद्ध जमींदार थे। बालक रवीन्द्रनाथ प्राथमिक शिक्षा हेतु कलकत्ता नार्मल स्कूल में भर्ती हुये। स्कूल घर से बहुत दूर था। घर में कई बग्घियाँ थीं, लेकिन रवीन्द्रनाथ पैदल ही स्कूल जाते थे। एक दिन बालक रवीन्द्र को स्कूल में पैदल जाते देख उनके पिताजी के एक मित्र ने पूछा, "आज स्कूल तुम पैदल क्यों जा रहे हो?" रवीन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं तो प्रतिदिन पैदल जाता हूँ।" तब तो उन्होंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी – क्या तुम्हारे पैर दर्द नहीं देते? क्या तुमने बग्घी से जाने का कभी हठ नहीं किया? क्या तुम पिताजी से घबराते हो? रवीन्द्र ने जवाब दिया, "मुझे तो मित्रों के साथ पैदल जाने में आनन्द आता है। जब दूसरे बच्चे पैदल जाते हैं, तो मैं ही अकेला बग्घी से क्यों जाऊँ?" यह सुनते ही मित्र झेंप-से गये।

उन्होंने जब देवेन्द्रनाथजी से रवीन्द्र को पैदल स्कूल भेजने का कारण पूछा, तो उन्होंने जवाब दिया, "बच्चे श्रम की महत्ता बचपन में ही समझ सकते हैं। रवीन्द्र यदि बग्घी से स्कूल जाएगा, तो दूसरों को पैदल आते-जाते देख वह स्वयं को बड़ा तथा दूसरों को छोटा समझेगा। उनसे मेल-जोल रखने से कतराएगा। उसमें प्रेम, करुणा, दया, ममता, उदारता, परोपकार, विनम्रता, शालीनता, शिष्टाचार, आत्मनिर्भरता, मिलनसारिता, इन गुणों का अभाव रहेगा। सहपाठियों के सान्निध्य में क्षमता, सौहार्द, सहिष्णुता, सौजन्यता, सहानुभूति, सेवा, आदि सकारात्मक गुणों को वह आत्मसात् कर सकेगा। बग्घी से जाने से उसे सदा धनी होने का अभिमान होगा। वह दूसरों से अलग रहेगा। इससे दूसरों की दुख-कठिनाईयों को समझने और उन्हें दूर करने की उसमें भावना नहीं रहेगी।" मित्र ने कहा, "बच्चों को कैसे संस्कारित किया जाय, इसे आपसे ही सीखना चाहिए।" इन्हीं सुसंस्कारों के कारण स्वाभिमानी रवीन्द्रनाथजी ने अँग्रेजी सरकार द्वारा प्रदत्त सर की उपाधि वापस करने में देर नहीं की।

बचपन के सुसंस्कार मनुष्य को महान तो बनाते हैं, साथ ही कीर्ति के शिखर तक पहुँचाने में सक्षम भूमिका भी निभाते हैं। संस्कारों से बालकों को अनुशासन की शिक्षा मिलती है। समानता की भावना बालकों में ममत्व, सह-अस्तित्व और दायित्व का बोध कराती है। ○○○

शक्तिस्वरूपिणी माँ सारदा

स्वामी पररूपानन्द
मातृमन्दिर, जयरामबाटी (पश्चिम बंगाल)

भारतवर्ष में नारी को पूर्ण मर्यादा के साथ न केवल सामाजिक जीवन में स्थान प्राप्त है, वरन् धार्मिक जीवन में भी गुरु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। भारतीय नारी के आध्यात्मिक ऐश्वर्य की धारा वैदिक काल से ही प्रवाहित होती चली आ रही है, भले ही इस अति दीर्घ समयान्तराल के दौरान भारतवर्ष में हर प्रकार के उत्थान-पतन का दौर चलता रहा हो। विशेषकर, आध्यात्मिक जीवन की पराकाष्ठा को प्राप्त करनेवाली महीयसी नारियों का राष्ट्रीय दृष्टिपटल पर आगमन सर्वदा ही होता रहा है। मैत्रेयी, गार्गी, लोपामुद्रा आदि वैदिक युग के नाम पुन: उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान के समय से बहुत जनप्रिय हो गए हैं। मध्ययुगीन काल की विष्णुप्रिया और मीराबाई सर्वविदित हैं ही। परन्तु नाम की लोकप्रियता अथवा महापुरुषों के गुणगान तक ही यदि हम पुनरुत्थान का लक्ष्य रखते हैं, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम तामसिकता से ग्रस्त हैं एवं अपने आदर्श को जीवन में अपनाने का प्रयास करना नहीं चाहते हैं।

वर्तमान लेख इतिहास की कहानी की पुनरावृत्ति करना नहीं है। केवल इतना ही कहना काफी है कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य से ही पुनरुत्थान का प्रयास आरम्भ हो गया था। इतिहास साक्षी है उन सभी प्रयासों का जिन्हें हमारे समाज ने अपनाया और अनवरत विदेशी आक्रमणों और आन्तरिक कमियों के बावजूद हमारी महान सभ्यता की निरन्तरता को सँजोकर रखा। संकट से भरे दीर्घ समयान्तराल की खाई को न केवल पाटने की आवश्यकता थी, वरन् इस मृतप्राय भारतीय समाज में शक्ति संचार करना भी अत्यावश्यक हो गया था, जिससे वह पुन: आशिष्ठ, द्रढिष्ठ, बलिष्ठ होकर विश्वाचार्य हो सके। साथ-ही-साथ यह आवश्यकता थी कि विश्व के समक्ष सनातन धर्म और उससे जन्मी संस्कृति को विश्व कल्याण के लिए एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर सके। सर्वोपरि आघात-प्रतिघात से जर्जरित हिन्दू समाज में शक्ति संचार करना आवश्यक था। भारतवर्ष की यह विशेषता है कि प्रत्येक पुनरुत्थान का उत्तरदायित्व स्वयं ईश्वर ने अवतरित होकर पूर्ण किया है। इसके अलावा समय-समय पर सिद्धपुरुषों और असाधारण गुण एवं शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों ने भी हमारे धर्म एवं संस्कृति में विचित्रता और सौन्दर्य की वृद्धि करते हुए हमारे समाज को प्रेरणा दी एवं इसकी निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक हुए।

जिस प्रकार एक साधारण शिला नदी के बहाव में अनवरत विभिन्न दिशाओं से आघात लगने पर शनै: शनै: शिवलिंग का रूप लेती है, उसी प्रकार हमारा व्यक्तित्व भी जीवन के असंख्य अनुभवों से रूपान्तरित और परिमार्जित होता हुआ अपने वर्तमान समय के अनुरूप सफल जीवन जीने में सक्षम होता है। साधारण व्यक्ति स्वभावत: इस झंझावात में पड़कर परस्पर दोषारोपण, कलह-झगड़े आदि के मकड़जाल में उलझ जाता है, परन्तु फिर आत्ममंथन कर एक नवीन रूप धारणकर आधुनिकता का उत्तराधिकारी भी बनता है। इस प्रकार उसका नवीन व्यक्तित्व एवं उसकी जीवनशैली दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत और पथ-प्रदर्शक बनता है। चूँकि व्यक्ति ही समाज की इकाई है, अत: समाज भी व्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक जीवन के अनुभवों को सहता-समेटता हुआ प्रासंगिक एवं प्रगतिशील बना रहता है।

परन्तु ईश्वर के अवतार को इस प्रक्रिया से गुजरना नहीं पड़ता है। वरन् बाल्यावस्था से ही वे मानव जाति को शिक्षा देते रहते हैं। उनके प्रत्येक कार्य का दूरगामी अर्थ होता है। अवतार पुरुष का सम्पूर्ण जीवन स्वाभाविक रूप से शिक्षाप्रद होता है। नवनिर्माण के लिए समय, परिस्थिति आदि के अनुरूप अवतार पुरुष जिन परम्पराओं को प्रारम्भ करते हैं, वे उनकी शक्ति से शक्तिशाली होकर जनमानस में अपना दूरगामी प्रभाव डालती हैं। ऐसा प्रभाव हमें अन्य अवतारों के जीवन में मिलता है। वर्तमान में श्रीरामकृष्ण-लीला को प्रारम्भ हुए लगभग १८० वर्ष हुए हैं और इसका वैश्विक स्तर पर प्रभाव स्पष्ट रूप से दीखने लगा है। इस बार की अवनति सम्भवत: पिछले सभी अवनतियों की अपेक्षा अधिक होने के कारण उसके उपचार की व्यवस्था भी उसी अनुपात में होनी आवश्यक थी। हुआ भी ऐसा ही। श्रीरामकृष्ण देव

के देहावसान के बाद श्रीमाँ सारदादेवी एवं स्वामी विवेकानन्द के अलावा, उनके लीलापार्षदों ने लगभग पाँच दशकों तक हम सभी के बीच रहकर भारतीय समाज के गुण-दोषों का सही-सही आकलन कर, उसके इतिहास, धर्म और संस्कृति के सार एवं भावार्थ को समझाकर हमारे समक्ष रखा। एक नयी परम्परा आरम्भ की, जो अतीत एवं भविष्य को अपने में समेटे हुए थी। परंतु 'धर्मस्य ग्लानि' की चरमावस्था में लगभग मूर्छित हुए भारतवासियों को हर दृष्टि से योग्य बनाने के लिए सबसे मूलभूत आवश्यकता थी 'शक्ति' की। श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी शक्ति के मूर्तरूप श्रीमाँ सारदादेवी को इस महान कार्य के अर्थ एवं महत्ता को स्पष्ट करने एवं इसमें शक्ति संचार करने हेतु हमारे मध्य दीर्घ ३४ वर्ष तक रखा।

श्रीसारदादेवी – श्रीमाँ का परिचय श्रीरामकृष्ण देव ने ही सबके समक्ष प्रस्तुत किया, अन्यथा आरम्भिक अवस्था में जब श्रीमाँ दक्षिणेश्वर में ठाकुरजी की सेवा में थीं, तब उनकी साधारण दिनचर्या देखकर उनके वास्तविक स्वरूप का थोड़ा भी अनुमान करना सम्भव नहीं था। श्रीरामकृष्ण देव ने अपने संन्यासी शिष्य स्वामी शिवानन्द को कहा था – "ये मंदिर की माँ (माँ भवतारिणी – काली) और नौबत की माँ (श्रीमाँ) अभेद हैं।"[१] गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं –

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।।
(रा.च.मा, १/१८)

– 'जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और जल की लहर के समान कहने में अलग हैं, परन्तु वास्तव में अभिन्न हैं, एक हैं, उन श्रीसीतारामजी के चरणों की मैं वन्दना करता हूँ, जिन्हें दीन-दुखी बहुत प्रिय हैं।' एक अन्य दिन जब श्रीमाँ ने ठाकुर से प्रश्न किया –"मैं तुम्हारी कौन हूँ।" सहज भाव से ठाकुर ने उत्तर दिया – "तुम मेरी माँ आनन्दमयी हो।"[२] ठाकुर दक्षिणेश्वर में आए हुए भक्तों, शिष्यों आदि को श्रीमाँ के स्वरूप के बारे में बताते रहते थे। एक बार योगिन माँ को ठाकुर ने कहा था – "उसे (श्रीमाँ) और इसे एक जानना।"[३] श्रीरामकृष्ण देव जब काशीपुर उद्यानवाटी में अस्वस्थ थे, योगिन माँ को वृन्दावन तपस्या के लिए जाने की इच्छा हुई। उन्होंने उत्साहित करते हुए कहा, "तुम वृन्दावन जाओगी? अच्छी बात है, जाओ, वहाँ तुम्हें सब कुछ मिलेगा।" श्रीमाँ भी उस समय पथ्य लिए उपस्थित थीं। माँ की ओर देखकर श्रीरामकृष्ण ने योगिन-माँ से कहा, "उससे कहा? वह क्या कहती है?" श्रीमाँ ने तुरन्त कहा, "जो कुछ कहना था, वह तो तुमने ही कह दिया, फिर मैं क्या कहूँगी?" श्रीरामकृष्ण ने मानो वह बात सुनकर भी नहीं सुनी और योगिन-माँ को परामर्श दिया, "बेटी, उसे राजी करके जाना, तुम्हें सब कुछ मिल जाएगा।"[४] श्रीदुर्गासप्तशती में है –

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये। (१/५६)

अर्थात् वे ही प्रसन्न होकर मनुष्यों को मुक्ति का वरदान देती हैं। जब श्रीमाँ ठाकुर का भोजन लेकर उनके कमरे में प्रवेश करतीं, तो ठाकुर 'माँ ब्रह्ममयी, माँ ब्रह्ममयी' कहकर खड़े हो जाते। शंकराचार्य रचित 'देव्यापराधक्षमापनस्तोत्र' से भी श्रीमाँ के आविर्भाव का महत्त्व स्पष्ट होता है –

चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं
भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्।।७।।

अर्थात्, श्मशानभस्म से भूषित, विषभोजी, दिगम्बर, जटाधारी, कण्ठ में सर्पमाला पहने हुए, कपाली, भूतपति, पशुपति ने भी जो अद्वितीय जगदीश्वरत्व प्राप्त किया है, हे भवानि ! आपके साथ पाणिग्रहण के कारण ही हुआ है।

एक भक्त ने प्रश्न पूछा – "माँ, ठाकुर यदि स्वयं भगवान हैं, तो आप कौन हैं?" रंचमात्र द्विधा किये बिना श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "मैं और कौन हूँ? मैं भी भगवती हूँ।"[५] इसी प्रकार ठाकुर के भतीजे शिवलाल के साथ एक दिन कामारपुकुर से जयरामबाटी लौटते समय जब उसने हठ किया, तो श्रीमाँ ने अन्त में कह ही दिया – "लोग कहते हैं काली।" तब शिवलाल ने कहा, "काली तो? सच?" श्रीमाँ ने कहा, "हाँ ।"[६] अपने सच्चे स्वरूप के बारे में कभी-कभी श्रीमाँ कहती थीं। उनको दैनिक जीवन में घर के साधारण काम-काज में व्यस्त तथा राधू के लिए चिंतित देखकर जब किसी ने पूछा, "माँ, देख रहा हूँ, आप घोर माया में बद्ध हैं।" साथ-साथ स्वीकार करते हुए और अपना परिचय देते हुए माँ ने कहा, "क्या करूँ, माँ, मैं स्वयं ही माया हूँ।" इस प्रकार उपरोक्त कथोपकथनों से शंकराचार्य के लिखे श्लोक का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। श्रीमाँ की शक्ति का आभास उनके दक्षिणेश्वर निवास काल में ही होने लगा था। दक्षिणेश्वर में बालक-भक्तों के आहार के विषय में श्रीरामकृष्ण के निर्देश की उपेक्षा कर श्रीमाँ अपने मातृवत्-स्नेह से उनलोगों को भरपेट भोजन कराती थीं। बाबूराम को

अधिक रोटियाँ देने पर श्रीरामकृष्ण ने जब आपत्ति की, तो श्रीमाँ ने कहा, "उसने दो रोटियाँ अधिक खा लीं, तो इसके लिए आप इतने अधिक चिन्तित क्यों हो रहे हैं? इनका भविष्य मैं देख लूँगी। आप इनके खाने के विषय में बुरा-भला मत सुनाइए।" श्रीरामकृष्ण बिना कुछ कहे मन-ही-मन सर्वजयी मातृत्व-शक्ति को सम्मान प्रदान कर उसी क्षण मुस्कराते हुए वहाँ से चले गए।[७]

स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज एक पत्र में लिखते हैं - "पूजनीया श्रीमाँ के पदचिह्न हृदय में धारण करके यमपुरी जाने पर बेचारा यम भी आतंक से भाग जाएगा, याद रखना।" स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के द्वारा श्रीमाँ के पास दीक्षा के लिए जयरामबाटी भेजे गए अत्यन्त विषयासक्त तीन भक्तों की दीक्षा के बारे में स्वामी गौरीशानन्द ने वहाँ से लौटकर जब स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज को श्रीमाँ की यह बात, 'मेरी संतानों ने वहाँ से ऐसी वस्तु भेजी' सुनाई, तो वे नि:शब्द हो गए। स्वामी प्रेमानन्द महाराज ने कुछ समय बाद निस्तब्धता भंग करते हुए कहा, "धन्य माँ, यदि वे वह विष न ग्रहण करतीं, तो हमलोग जल गए होते।" यह कहकर भावावेग से दोनों हाथ उठाकर माँ को बार-बार प्रणाम करने लगे।[८]

शक्ति की अभिव्यक्ति माधुर्य, दया, ममता, करुणा आदि भावों के रूप में भी होती है। श्रीमाँ के साथ भी उनके जीवन में अधिकांश ऐसा ही हुआ। क्या यह श्रीदुर्गासप्तशती के **'सौम्या-सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वति-सुन्दरी'** के अनुरूप नहीं था? इस बार की अवतारलीला की विशेषता यह है कि श्रीरामकृष्णदेव और उनकी सहधर्मिणी श्रीमाँ सारदा देवी का जीवन जन-साधारण के साथ सम्पूर्ण रूप से अतिविनय, स्नेहभाव से पूर्ण था। हम सबको सान्त्वना देते हुए उन्होंने अभयवाणी भी दी है। उन्होंने कहा था, "मैं तो हूँ, मेरे रहते भय क्यों?" और भी कहा था, "मैं सज्जन की भी माँ हूँ और दुर्जन की भी।"[९] यही हमारे लिए सबसे बड़ा सहारा है। उनके वात्सल्य-भाव में सभी समा जाते हैं।

मानव जाति के पतन के लिए जितने प्रकार के कारण सम्भव हो सकते हैं, वे सभी भारतीय समाज के ऊपर कई शताब्दियों से आघात करते रहे। परन्तु असीम सहनशक्ति के आवरण के भीतर हमारी संस्कृति के बीज सुरक्षित रह गए। माँ की स्नेह छाया में मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक विकास संतुलित रूप से होता है। इसलिए मातृत्वभाव के प्रभाव से पुष्ट हो पुन: प्रस्फुटित एवं विकसित होकर सर्वांग सुंदर बनाने का कार्य जो श्रीरामकृष्ण देव ने प्रारम्भ किया था, उसकी पूर्णता का उत्तरदायित्व उन्होंने श्रीमाँ को सौंपा था। काशीपुर में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने कुछ शिकायत भरे स्वर में श्रीमाँ से कहा, "तुम क्या कुछ भी नहीं करोगी, (अपनी ओर इशारा करके) यही सब करेगा?" श्रीमाँ ने अपनी असमर्थता की बात सोचते हुए कहा, "मैं तो नारी हूँ, मैं क्या कर सकती हूँ?" श्रीरामकृष्ण ने उसी क्षण उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, तुम्हें बहुत कुछ करना होगा।" काशीपुर में ही कुछ दिनों बाद श्रीरामकृष्ण अपने शरीर की ओर इंगित कर अपने ही भाव में (श्रीमाँ से) कहने लगे, "आखिर इसने क्या किया है? तुम्हें इससे बहुत अधिक करना होगा।"[१०] पहले भी श्रीरामकृष्ण सस्वर गाते थे –

किससे कहूँ उस दायित्व को, जो घेरा यहाँ आने पर।
जिसका दर्द वही जाने, अन्यों को उसकी क्या खबर?[११]

श्रीमाँ द्वारा प्रदत्त शिक्षा की यह विशेषता थी कि उनमें कोई दार्शनिक जटिलता नहीं थी। हमेशा सरल वाक्यों और कभी-कभी कुछ शब्दों में ही वे उत्तर देती थीं। श्रीमाँ का जीवन कर्मप्रधान ही रहा। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।३.२१।।

– अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा ही करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे लोग वैसा ही अनुसरण करते हैं । बचपन से आरम्भ कर श्रीमाँ के कर्मबहुल जीवनधारा का वेग उनकी इहलीला समाप्त होने के कुछ महीने पहले तक कभी भी प्रशमित नहीं हुआ। अन्य किसी अवतार-संगिनी की लीला में हम ऐसा नहीं पाते हैं। कलकत्ता में भक्तों का ताँता लगा रहता और जयरामबाटी में तो तीन पीढ़ियों के उनके आत्मीय-स्वजन, जिनमें कुछ विचित्र स्वभाव वाले, तो कुछ झगड़ालु, माँ से मिलने आते। देर रात्रि में लम्बी यात्रा कर आए हुए भक्तजनों के लिए भोजन पकाना और रोगग्रस्त स्वजन व भक्तों की हर प्रकार सेवा इत्यादि में श्रीमाँ हमेशा व्यस्त रहतीं। सर्वोपरि, योग्यता का बिना बिचार किये प्रत्येक दीक्षाप्रार्थी को महामन्त्र प्रदान कर मुक्ति का द्वार खोल देने का कार्य भी, शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद इहलीला समाप्त होने के कुछ महीने पहले तक करती रहीं। उपरोक्त प्रकार के लोगों के बीच, समुद्र की ऊर्मिमाला की भाँति अनवरत कर्मप्रवाह में अनासक्त रहते हुए श्रीमाँ ने दीर्घ छ: दशक व्यतीत किये। इससे उत्तम

उदाहरण की क्या हम इस आधुनिक युग में कल्पना भी कर सकते हैं?

इसके अलावा श्रीमाँ का मातृस्नेहमय व्यवहार उनके दर्शनप्राप्त भक्त एवं उनकी जीवनी को पढ़नेवाले भक्तों के मन पर एक अमिट छाप छोड़ देता है। जयरामबाटी में यदि किसी को कुछ सामान लाने के लिए भेजा गया है, तो माँ बिना खाये उसके लौटने की प्रतीक्षा करती थीं, खड़े होकर देखती रहतीं, भले ही कितनी देर हो जाए। १३ दिसम्बर, १९१९ ई. को जयरामबाटी में श्रीमाँ के जन्मदिन के अवसर पर भक्तों की इच्छा हुई कि पहले माँ खाएँगी, तत्पश्चात् बाकी सब लोग खायेंगे। हालाँकि माँ हमेशा सबको भोजन कराकर ही स्वयं खाती थीं, परन्तु आज बिना आपत्ति के सहमत हो गईं। ठाकुर के भोग की थाली से सभी द्रव्य माँ के लिए प्रस्तुत करने पर उन्होंने शीघ्र चखकर कहा, "संतानों के खाने के पहले मेरे गले के नीचे नहीं उतरता है, शीघ्र सबके लिए व्यवस्था करो।" जब सभी भोजन करने लगे, तब उनका मन शान्त हुआ और वे सस्नेह संतानों को खाते हुए देखने लगीं।

संन्यासी और गृहस्थ शिष्यों के प्रति श्रीमाँ का स्नेह समान वर्षित होता था। जयरामबाटी में कई सौभाग्यशाली त्यागी संतानों को श्रीमाँ ने संन्यास दीक्षा देकर कृतार्थ भी किया था। योगिन माँ ने स्वामी सारदेशानन्द जी से कहा था, "जो कुछ मठ इत्यादि देख रहे हो, यह सब माँ की कृपा से हुआ है। जहाँ जो (देव-विग्रह) दिखा, रो-रोकर उन्होंने प्रार्थना की – 'ठाकुर ! मेरे बच्चों को सिर छिपाने की थोड़ी-सी जगह कर दो, उनके भोजन की व्यवस्था करो।' माँ की इच्छा पूर्ण हुई।"[१३] बोधगया में सुन्दर-सम्पन्न बौद्धमठों को देखकर श्रीमाँ के मातृहृदय से ठाकुर की त्यागी-सन्तानों के लिए प्रार्थना नि:सृत हुई थी। परवर्तीकाल में इस विषय में उन्होंने कहा था – "अहा ! इसके लिए ठाकुर के सामने कितना रोई हूँ, कितनी प्रार्थना की है। तभी तो आज उनकी कृपा से ये मठ-वठ सब कुछ है।"[१२] १ मई, १८९७ ई. को बलराम बसु के घर 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना के लिए की गई बैठक में स्वामी विवेकानन्द ने अपने वक्तव्य में कहा था, "आज हमारा यह जो संघ बनने जा रहा है, वे (माँ सारदा) उसकी रक्षाकर्त्री, पालनकारिणी और हमारी संघजननी हैं।"[१४]

श्रीमाँ का असीम मातृत्व सर्वजन विदित है। बचपन से ही अपने भाइयों की देखभाल करना और सूखाग्रस्त ग्रामवासियों को खिचड़ी खिलाते समय पंखा झलना – मातृत्व-प्रेम से पूर्ण उनके हृदय का द्योतक था। 'उद्बोधन' में माँ के घर के उत्तर वाले बरामदे में बैठकर एक गृहस्थ युवक भक्त ने जब उनसे कहा, "सचमुच मैंने इतने बुरे काम किए हैं कि लज्जा के मारे तुमसे भी नहीं कह सकता हूँ। फिर भी तुम्हारी दया पर ही हूँ।" माँ ने स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "माँ के पास लड़का लड़का ही है।" उस स्नेह के स्पर्श से भक्त का हृदय पिघल गया।"[१५] श्रीमाँ के अलौकिक प्रेम की शीतल वारि से अवगाहन कर भगिनी निवेदिता ने सारा जीवन भारत के चहुँमुखी विकास के लिए उत्सर्ग कर दिया था। एक पत्र में निवेदिता ने लिखा था – "प्यारी माँ, तुम स्नेह से परिपूर्ण हो। ...सचमुच तुम ईश्वर की अपूर्वतम सृष्टि हो। तुम श्रीरामकृष्ण के विश्व प्रेम की वह धारयित्री हो – जो स्मृतिचिन्ह वे अपने संतानों के लिए छोड़ गए हैं।" ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। श्रीमाँ के शब्दकोष में स्वदेश-विदेश, शत्रु-मित्र जैसे शब्द नहीं थे। समग्र विश्व ही उनका 'अपना' था। यहाँ तक कि उनका गुरुभाव भी एक स्नेहमयी जननी के वात्सल्य-प्रेम से ओतप्रोत था। विष्णुपुर रेलवे स्टेशन पर एक कुली ने आकर श्रीमाँ को प्रणाम किया और भक्ति भाव से कहा, "तुम मेरी माता जानकी हो, तुम्हें मैं कितने दिनों से खोज रहा था। इतने दिन तुम कहाँ थी।" यह कहते हुए वह गद्गद कंठ से रोने लगा। श्रीमाँ के कहने पर जब उसने उनके चरणों पर एक फूल अर्पण किया, तो श्रीमाँ ने उसे वहीं दीक्षा दी। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि दीक्षार्थी की योग्यता की किसी भी प्रकार से पूछताछ किये बिना ही उसी क्षण महामन्त्र से दीक्षित कर शिष्य के रूप में ग्रहण कर लेना, यह एक माँ का संतान के प्रति सहज प्रेमभाव के अलावा और क्या हो सकता है ? सचमुच उनका गुरुभाव भी मातृत्व भाव से ओतप्रोत था।

स्वामी सारदानन्दजी ने 'भारत में शक्तिपूजा' नामक पुस्तक में लिखा है, 'चैतन्य के साथ शक्ति के नित्य मिलन को देखकर ही विशेष-विशेष शक्ति-सम्पन्न पदार्थों में तथा समस्त जगत में भारतवर्ष के ऋषियों ने शवरूपी शिव पर नृत्य करती हुई शक्ति की आराधना की थी। वे पथ प्रदर्शक गुरु में, जगद्विमोहिनी स्त्रीरूप में, विद्या, क्षमा, शान्ति, मोह, निद्रा, भ्रान्ति आदि सात्त्विक एवं तामसिक गुणों में उसी अद्वितीया, वराभयकरा, मुण्डमालिनी देवी का आविर्भाव-दर्शन श्रद्धा के साथ उनकी आराधना कर कृतार्थ हुए थे

शेष भाग पृष्ठ ६२१ पर

स्वामी त्यागीशानन्द और चित्रकार

एकबार महात्मा गाँधी अपने दक्षिण भारत के दौरे पर बेंगलोर आए थे । उन्होंने स्वामी त्यागीशानन्द महाराज जी से मिलने की इच्छा व्यक्त की। स्वामी त्यागीशानन्द जी रामकृष्ण मठ, बेंगलोर के अध्यक्ष थे और स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज जी के शिष्य थे। उन्होंने अपने पूर्व दिनों में अस्पृश्यता-निवारण के लिए कार्य किया था, इसलिए महात्मा गाँधीजी उनसे मिलना चाहते थे। महाराज उनसे मिलने गए। उनकी इस विषय पर बातचीत तो हुई, किन्तु एक मजेदार घटना भी घटी।

उसी समय एक ऑस्ट्रियन महिला-चित्रकार गाँधीजी से साक्षात्कार (इंटरव्यू) के लिए आईं। गाँधीजी जब भी कुछ बोलना चाहते, तो वे उन्हें बीच-बीच में हस्तक्षेप करतीं। तब गाँधीजी ने विनोदपूर्वक इशारे से उनका नाक खींचकर कहा, "मुझे बोलने दो।" इस प्रकार वे शान्त हो गईं। इसी बीच वे चित्रकार स्वामी त्यागीशानन्द महाराज के भव्य आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुईं। उन्होंने महाराज से बात की और इच्छा व्यक्त की कि वे उनका चित्र बनाना चाहती हैं।

सचमुच स्वामी त्यागीशानन्दजी महाराज का व्यक्तित्व ऋषि-तुल्य था। अपने नाम के अनुरूप उनका जीवन भी त्याग का एक अद्भुत उदारहण था । लम्बा कद, सुडौल शरीर और श्वेत लम्बे बाल और दाढ़ी – मानो एक प्राचीन ऋषि ही सामने खड़े हों। उन महिला-चित्रकार ने महाराज से कहा कि वे अगले दिन ही उनका चित्र बनाने आश्रम आएँगी और वे इसके लिए तैयार रहें। महाराज भी मान गए। वे बहुत प्रसन्न हो गईं कि इस चित्रकारी के द्वारा वे अपनी प्रतिभा अभिव्यक्त कर सकेंगी।

स्वामी त्यागीशानन्द जी भी अगले दिन स्नान इत्यादि कर सचमुच में 'तैयार' हो गए। प्रतिदिन की तरह वे हाथ में छड़ी लिए बरामदे में टहल रहे थे। वे चित्रकार अपने वचन के अनुसार आश्रम में आईं। कुछ देर स्वामी त्यागीशानन्दजी को आश्चर्य से देखकर उन्होंने पूछा, "मैं अमुक स्वामी से मिलना चाहती हूँ, जिनसे मैं कल मिली थीं।" महाराज ने तुरन्त कहा, "हाँ, मैं वही हूँ।" किन्तु उन चित्रकार को विश्वास नहीं हो रहा था और वे किंकर्तव्यविमूढ़ कुछ देर वहीं खड़ी रहीं। वे सोच रही थीं कि उनके सामने खड़े हुए यदि स्वामी त्यागीशानन्द जी हैं, तो कल जिन्हें देखा था, वे कौन थे? यह क्या पहेली है?

वास्तव में हुआ क्या था, जिस दिन वे चित्रकार स्वामी त्यागीशानन्द जी का चित्र बनाने के लिए आश्रम में आने वाली थीं, उसी सुबह को महाराज ने नाई को बुलाकर अपने चमकीले केश-दाढ़ी मुड़वा दिए। वे सचमुच उस समय एक अलग ही व्यक्ति दीख रहे थे। जो लोग उन्हें प्रतिदिन देखते थे, उन्हें भी महाराज को उस रूप में देखने में काफी अन्तर लग रहा था। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट हो गया कि वे ही स्वामी त्यागीशानन्द महाराज थे ! वे महिला-चित्रकार बहुत निराश हो गईं। महाराज के जिस बाह्य ऋषि-तुल्य रूप – चमकीले दीर्घ केश-दाढ़ी इत्यादि से आकर्षित होकर वे उनका चित्र बनाना चाहती थीं, वह उस समय कुछ भी नहीं था। वे बिना चित्र बनाए ही वापस लौट गई।

स्वामी त्यागीशानन्द जी महाराज यह घटना एक ब्रह्मचारी से कह रहे थे। उन ब्रह्मचारी ने विनोदपूर्वक महाराज से कहा, "महाराजजी, आपको वे मुड़े हुए केश-दाढ़ी एक पैकेट में डालकर उन चित्रकार को दे देने चाहिए थे! क्योंकि केवल उसी से आकर्षित होकर ही वे यहाँ आई थीं, स्वामी त्यागीशानन्द के वास्तविक व्यक्तित्व से आकर्षित होकर नहीं ।" महाराज भी मन्द मुस्कुरा दिए। ○○○

मनुष्य-देह में स्थित मानव-आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है । वैसे पशु भी भगवान के मन्दिर हैं, पर मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है – ताजमहल जैसा । यदि मैं उसकी उपासना नहीं कर सका, तो अन्य किसी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा । जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य-देह रूपी मन्दिर में विराजित ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूँगा और वास्तव में उसमें ईश्वर को देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जाएगा, उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा ।

– स्वामी विवेकानन्द

सारगाछी की स्मृतियाँ (६२)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

स्वामी प्रेमेशानन्द

०२-०२-१९६१

महाराज – क्या, तुम यह बात समझते हो कि सभी के पीछे एक चैतन्य विद्यमान है? यहाँ तक कि ये जो प्राणशक्ति, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा हैं, उनके पीछे भी चैतन्य शक्ति है, तभी प्राण-क्रिया हो रही है। चैतन्य शक्ति ही घड़ी में प्राण-संचार करती है। थोड़ा सा बालू लेकर विश्लेषण करते-करते देखोगे कि वह भी चैतन्य है। अत: इस एक को पकड़ सकने से ही सब हो गया।

गीता में पहले कर्म करने को कहा गया है। किन्तु यदि कर्म किए बिना नहीं रह सको, तो निष्काम भाव से कर्म करो। संन्यास-योग में कर्मत्याग करने को कहते हैं। छठवें अध्याय में तो 'शम: कारणमुच्यते' कहते हैं। तब वह व्यक्ति एक चैतन्य वस्तु के चिन्तन में मग्न रहता है, अन्य कार्य करने का मन और समय कहाँ है ! गीता में भगवान भी कहते हैं –

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

हमारे जितेन महाराज (स्वामी विशुद्धानन्द) किसी झमेले में नहीं जाते, वे अपने भाव में रहते थे और हैं। मैंने १९२६ ई. में यतीश्वरानन्द स्वामी को देखा था। सुन्दर चेहरा, आज भी आँखों में बसा है। वे अभी कैसे हैं, नहीं जानता हूँ। जितेन महाराज का क्या शरीर है ! वर्ण योगी का है ! काली पूजा के दिन इस आयु में १०-१२ घंटे बैठे रहना कोई सामान्य बात नहीं है, हममें से दूसरा ऐसा कोई नहीं। किसी-किसी की बुद्धि अधिक तेज है, आँखों के सामने सब कुछ देखते हैं, किन्तु योग करने की जो शक्ति होती है, वह नहीं है। फिर किसी में भाव की कमी है। किन्तु एक कठिनाई है, ज्ञान-चर्चा में एक प्रकार का बौद्धिक सुख है, उसमें ही मतवाले हो जाते हैं।

मैं तो कहता हूँ, अभी भगवान-टगवान को रहने दो, आनन्दमय कोश में मन नहीं जाने से केवल भगवान को लेकर नहीं रहा जा सकता। इसीलिए कहता हूँ, देह-मन-बुद्धि से परे जाने का प्रयास करो, उससे ही मन आनन्दमय कोश में चला जाएगा। भगवान का चिन्तन करते-करते मन को देह-मन-बुद्धि से परे सोचना सम्भव होता है। कोई कुछ भी कहे, **येषां त्वन्तगतं पापं...** पुण्यकर्म करते-करते अपनी स्वार्थपरता घटेगी। दूसरों की संवेदना का अनुभव करते-करते अपना जितना ही विस्तार होगा, उतना ही मन को ईश्वराभिमुखी बनाना सहज होगा। हम तो कहते हैं कि यदि कोई सच्चा लोकहितैषी, मानवप्रेमी हो, तो उसे फिर ईश्वर-फीश्वर नहीं करना होगा। ठाकुर-माँ-स्वामीजी ने इस बार आकर देश के विकास के लिये कितना कष्ट उठाया! उन लोगों की वही कल्याण-चिन्तन-धारा आज सुयोग्य लोगों के मस्तिष्क को प्रभावित कर रही है, उससे ही तो देशवासी मत्त हो रहे हैं। इस बार ऐसा ही विकास होगा ! उसके बाद हो सकता है धर्म हो। किन्तु एक बात है, मुमुक्षु चिरकाल से हैं और रहेंगे, वे हमेशा ही अपने मार्ग पर चलते हैं। हममें से सभी गेरुआ पहनते ही सोचते हैं, क्या था, क्या हो गया ! वे गलत सोचते हैं। उन्हें लगता है, किसी शास्त्रीय आचार-विचार मानने की आवश्यकता नहीं है – **''निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।''**

प्रश्न – क्या उपासना के बिना मन की तैयारी नहीं होती?

महाराज – मन की तैयारी नहीं करने से तो अधिक समय तक आसन पर बैठा नहीं जा सकता। इसीलिये ठाकुर ने कहा है, उपासना की बहुत आवश्यकता है। उन्होंने कहा है, पहले दस भुजा दुर्गा, फिर चतुर्भुजा माँ काली, फिर

द्विभुजा। अन्त में गोपाल – कोई ऐश्वर्य नहीं। उसके भी बाद अरूप ज्योति। ईश्वर की उपासना के लिये वैष्णवों की एक निर्मल रचना है – किशोर कृष्ण। किशोरावस्था में मनुष्य का रूप सबसे अधिक सुन्दर होता है। शरीर चमकता रहता है, किन्तु उसमें काम नहीं रहता। १०-१२ वर्ष का एक किशोर हाथ में बंसी लिये गाय को पकड़कर खड़ा है, अद्‌भुत सुन्दर ! बचपन से ही यह गीत मैंने सुना था – "किशोरी चलो रे, चलो चलें श्याम दर्शन को।" गीत सुनकर मैं विभोर हो गया था।

बौद्ध लोगों में तो ये सब शान्त, दास्य आदि भाव नहीं हैं, केवल वैष्णवों में ही इसका चरमोत्कर्ष है। अरे, क्या भगवान ऐसे ही बार-बार इस देश में आते हैं? क्या भगवान को इस प्रकार अपने घर का स्वजन समझकर कोई प्रेम कर सका है? माँ दुर्गा आई हुई हैं, किन्तु जब माँ वापस जाने लगती हैं, तो घर की महिलाएँ मानो उन्मत्त हो जाती हैं। हमारी मातायें उनके लिए कोई गहना रख देती हैं, उनके मुख में पान खिलाती हैं, फिर कानों में कह देती हैं – फिर आइयेगा। मानो कोई लड़की ससुराल से अपने पिता के घर आयी हुई है।

०३-०२-१९६१

प्रश्न – महाराज, जब भी हम लोग 'कृपा', 'ठाकुर की इच्छा', ये सब कहते हैं, तो आप नाराज हो जाते हैं, किन्तु कई वृद्ध महाराज तो ऐसा ही कहते हैं !

महाराज – तुम लोगों द्वारा 'कृपा' कहने की बहुत निन्दा करता हूँ। क्योंकि ऐसा कहकर तुम लोग अकर्मण्य हो सकते हो। ठाकुर जो 'माँ की इच्छा' कहते थे, उसका कारण यह था कि वे दिन-रात माँ के अलावा और कुछ भी नहीं देख पाते थे, इसीलिये उनके समस्त कार्य माँ की इच्छा से होते थे।

जितेन महाराज (स्वामी विशुद्धानन्द) उठते-बैठते हमेशा ऐसा कहते हैं। इसका कारण यह है कि वे गुरु हैं तथा गृहस्थ भक्त उनके शिष्य हैं, वे लोग उनका अनुसरण करेंगे। सभी कार्यों में भगवान की इच्छा देखने का प्रयास करना एक साधना है। गृहस्थ-भक्त के पुत्र के मर जाने पर यदि वह उसे भगवान की इच्छा समझे, तो उससे दुख-शोक में वह बहुत सँभल सकता है। अश्विनी दत्त के भक्तियोग में ऐसा है – एक व्यक्ति का पुत्र मर गया, वह काष्ठवत् बैठा रहा।

तुम लोग बात-बात में 'कृपा', 'ठाकुर की इच्छा' कहते रहते हो, यह सब क्या है ! सौम्यानन्द को मैंने कुछ नहीं कहा, क्योंकि वे वृद्ध हो गए हैं, उनके द्वारा अब अधिक पुरुषार्थ सम्भव नहीं है। इसीलिए वे शेष जीवन को ठाकुर के हाथों में सौंपकर चल रहे हैं। हममें से सबकी अभी यही अवस्था है। इसीलिए वृद्ध लोग कहते हैं – प्रभु की इच्छा।

किन्तु, तुम लोग नए हो, अभी पूरा पुरुषार्थ करने का समय है। यदि तुम लोग कहो 'ठाकुर की इच्छा', तो इससे यह समझा जाएगा कि तुम कुछ करना नहीं चाहते हो, अकर्मण्य बनकर कार्य की उपेक्षा करना चाहते हो। इसीलिए तुम लोगों से 'कृपा', 'ठाकुर की इच्छा' इन सब बातों की इतनी निन्दा करता हूँ। **(क्रमशः)**

काव्य सरिता

माँ सारदे ! माँ सारदे !

जितेन्द्र कुमार तिवारी

माँ सारदे ! माँ सारदे ! मति मेरी माँ सुधार दे !!
मैं अकिंचन भक्त हूँ माँ, तव चरण अनुरक्त हूँ माँ,
जंजाल में जग के फँसा, मोह में आसक्त हूँ माँ ।
माँ मुक्ति का उपहार दे ! माँ सारदे ! माँ सारदे !!
दीन-दुखियों का सहारा, मैं बनूँ माँ स्नेहधारा,
कामना हो पूर्ण मेरी, इसलिये मैंने पुकारा ।
माँ शक्ति का संचार दे ! माँ सारदे ! माँ सारदे !!
कष्ट में मानव जगत के, रुद्ध पथ सारे सुगत के,
तुम बड़ी करुणामयी हो, करुण रोदन में भगत के ।
माँ आज इसे दुलार दे ! माँ सारदे ! माँ सारदे !!

मन पलाश वन में

पं. गिरि मोहन गुरु, होशंगाबाद

धधक रही है आग राग की, धुआँ विरह वाला,
फिर भी मत्त हुआ फिरता है, प्रेमी मतवाला !
लाली रह-रह नाच रही है, दोनों लोचन में !
सन्त अनन्त कथाएँ लेकर, खड़े रहे मग में,
किन्तु एक भी काम न आई, फँसे रहे जग में ।
धँसे रहे अनुराग-राग वाले, शर तन मन में !!

योगसूत्र में आसन

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

(स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी है। ये रामकृष्ण मठ चेन्नई से प्रकाशित होनेवाली 'वेदान्त केसरी' मासिक पत्रिका के पूर्व सम्पादक थे। इनकी पातंजल योग विषयक प्रवचनमाला काफी लोकप्रिय हुई है। पातंजल योग से सम्बन्धित तप, स्वाध्याय, शरणागति आदि कई लेख इनकी पुस्तक 'आनन्द की खोज' में पहले से ही प्रकाशित हो चुके हैं। अब योग के शेष अन्य विषय जो अब तक अप्रकाशित हैं, महाराजजी ने विशेष रूप से विवेक ज्योति के पाठको के लिये लिखे हैं, उन्हें प्रकाशित किया जा रहा है। - सं)

आसन अष्टांग योग का तीसरा अंग है। योग के प्रथम पाँच अंग बहिरंग योग कहलाते हैं, जो व्यक्ति को अन्तरंग योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि के लिए तैयार करते हैं। आजकल सर्वत्र ध्यान सहित योग में लोगों की रुचि बढ़ रही है। यह स्पष्ट रुप से समझ लेना चाहिए कि बिना बहिरंग योग की कम-से-कम कुछ मात्रा में अभ्यास किये बिना धारणा-ध्यान रूप अन्तरंग योग की साधना असम्भव है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द से किसी ने पूछा "ध्यान कहाँ करना चाहिए, देह के भीतर या बाहर?" स्वामीजी ने उत्तर दिया था, "हमें देह के भीतर ध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिए। जहाँ तक मन को किसी स्थान में स्थिर करने का प्रश्न है, उस मानसिक स्तर तक पहुँचने में उसे बहुत समय लगेगा। अभी हमारा प्रयास देह को स्थिर करने में है। आसन के पूर्ण रूप से स्थिर होने पर ही मन के नियंत्रण का प्रयत्न किया जा सकता है।"

सभ्य समाज में आजकल योगाभ्यास अर्थात् योगासनों एवं प्राणायाम का अभ्यास अत्यन्त प्रचलित हो गया है। लोग योग-शिविरों में जाकर कई प्रकार के योगासन सीख कर नियमित रूप में उनका अभ्यास शरीर को स्वस्थ रखने के लिए और रक्तचाप, मधुमेह आदि बीमारियों से छुटकारा पाने के लिये करते हैं। लेकिन बिरले लोग ही यह जानते हैं कि योग के परमाचार्य पतंजलि के अनुसार स्थिर आसन ध्यान की एक पूर्व तैयारी या पीठिका है। लम्बे समय तक बिना हिले-डुले बैठने में समर्थ हुए बिना कोई भी ठीक से ध्यान नहीं कर सकता।

आसन की परिभाषा करते हुए और उसके लक्षण बताते हुए पतंजलि कहते हैं – **'स्थिरसुखमासनम्'**[१] – अर्थात् आसन स्थिर और सुखकर होना चाहिए। हम पद्मासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, सहजासन आदि किसी में भी क्यों न बैठें, हमारे लिये वह सहज, स्वाभाविक और सुखदायक होना चाहिए, उसमें कष्ट नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि हमें पद्मासन में बैठने की आदत न हो और हम दूसरों की देखा-देखी उसमें बैठना चाहें तथा पैरों के कठोर हो जाने के कारण उसमें कष्ट हो, तो उस आसन में नहीं बैठना चाहिए। शारीरिक कष्ट के कारण मन में विक्षेप होगा, और ध्यान नहीं हो सकेगा।

आसन का दूसरा लक्षण है, वह स्थिर होना चाहिए। अर्थात् शरीर का कोई भी भाग हिलना नहीं चाहिए। पैर, हाथ, गर्दन, सिर कोई भी अंग चंचल न हो। अगर शरीर चंचल हो, तो मन उसी प्रकार स्थिर नहीं रह सकता, जिस प्रकार गिलास के हिलने-डुलने से उसमें भरा पानी स्थिर नहीं रह सकता।

आसन का तीसरा लक्षण है, पीठ, गर्दन और सिर एक सीध में होने चाहिए। शरीर न आगे की ओर झुका हो, न पीछे की ओर और न ही बीच से मुड़ा हो। जिन लोगों ने श्रीरामकृष्ण की जीवनी व उपदेश पढ़े हैं, वे जानते हैं कि श्रीरामकृष्ण प्राय: अपने युवा शिष्यों को पंचवटी या दक्षिणेश्वर मन्दिर के किसी निर्दिष्ट स्थान में बैठकर ध्यान करने को कहते थे। उसके बाद स्वयं वहाँ जाकर उनके आसन अर्थात् बैठने की पद्धति को ठीक कर देते थे। कोई आगे झुका होता था, तो उसे सीधा बिठा देते थे, इत्यादि।

श्वेताश्वतर उपनिषद में भी कहा गया है, "**त्रिरुन्नतं स्थात्म समं शरीरं**"[२] – अर्थात् वक्ष, गर्दन और सिर उन्नत रहना चाहिए। ऐसी उन्नत देह में मानसिक चिन्तन भी स्पष्टतर होता है और यह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभकर है। उन्नत आसन के अभ्यस्त लोग दीर्घायु होते हैं।

कितनी देर तक आसन में बैठना चाहिए? ऐसे भी योगी हो गये हैं, जो एक ही आसन में, शरीर के किसी भी अंग को हिलाये बिना और सोये बिना चौबीस घंटे बैठ सकते थे। कुछ संन्यासी शिवरात्रि या कालीपूजा आदि विशेष दिनों पर सारी रात एक आसन पर बैठे रहते थे।

यह तो हमारे लिये सम्भव नहीं है। हठयोग के अनुसार अगर कोई ४ घंटे २० मिनट तक स्थिर आसन में बैठ

सके, तो वह आसन-सिद्ध माना जाता है। पर हमें तो, हम जहाँ से हैं, वहाँ से प्रारम्भ करना है। पहले १५ मिनट सुबह और १५ मिनट शाम को स्थिर आसन में, वह भी एक स्थान पर और एक आसन बिछा कर उस पर बैठने का अभ्यास करें। सांसारिक कार्यों में व्यस्त व्यक्ति को एक मुहूर्त ४८ मिनट सुबह और संध्या को स्थिर आसन में बैठकर ध्यान करने का लक्ष्य होना चाहिए। भले ही वह १५ मिनट सुबह-संध्या से प्रारम्भ किया गया हो।

अगले सूत्र में पतंजलि आसन की दृढ़ता के लिये दो महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपाय बताते हैं **प्रयत्नशैथिल्यानन्त-समापत्तिभ्याम्।**[३] – अर्थात् प्रयत्न को शिथिल करने से तथा अनन्त में चित्त को लगाने से आसन सिद्ध होता है। प्रारम्भ में भले ही आसन को स्थिर करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़े, पर बाद में शरीर को ढीला छोड़ देना चाहिए। जितना अधिक हो सके बैठे-बैठे तनाव रहित होना चाहिए। प्रयत्नशैथिल्य का अर्थ है – शव के समान शरीर का निष्प्रयत्न भाव। शरीर टेढ़ा भी न हो और सारे अंग-प्रत्यंग तनाव रहित हो जायँ।

प्रयत्नशैथिल्य का एक और अर्थ है, मन में उठ रही विभिन्न प्रकार की कर्मप्रवृत्ति के संकल्पों को त्यागना। यदि आसन में बैठने पर भी मन में अनेक संकल्प उठते रहें, यथा, मुझे अमुक कार्य करना है, अमुक स्थान जाना है, अमुक से बात करनी है, तो ये स्वाभाविक रूप से अधिक समय तक बैठने नहीं देंगे। अत: साधना का एक महत्त्वपूर्ण मंत्र है, ''अपने संकल्पों को काटते चलो।'' यह लौकिक उपाय है।

आसन की दृढ़ता का दूसरा उपाय है अनन्तसमापत्ति, जिसे 'जीवन्मुक्तिविवेक' ग्रन्थ के विद्वान लेखक विद्यारण्य मुनि ने अलौकिक उपाय बताया है। इसका अर्थ है ऐसी भावना या चिन्तन करना कि ''मैं अनन्त नाग हूँ, जो सहस्रों फणों से पृथ्वी को धारण कर स्थिर बैठा हूँ।'' अनन्त नाग से अधिक स्थिर अडिग तो कोई हो ही नहीं सकता है। 'मैं वही हूँ', ऐसी भावना करने से आसन स्थिर होता है। वस्तुत: अनन्त नाग तो मानो पृथ्वी को सन्तुलन, स्थिर और अपनी धुरी पर बनाये रखने वाली शक्ति का प्रतीक है। किसी भी विषय पर गहरा ध्यान करने से उससे सम्बन्धित शक्ति या ऊर्जा का संचार हमारे जीवन में होता है। अत: यह उपाय सुझाया गया है।

अनन्त अर्थात् चतुर्दिक्-व्यापी आकाश का ध्यान भी आसन-सिद्धि में सहायक होता है। मेरा शरीर अनन्त आकाश की तरह शून्य है, ऐसी भावना भी 'अनन्त-समापत्ति' का एक अर्थ है। कोई साधक इसका भी अभ्यास कर सकता है।

अगले सूत्र, ४७ में आसन में प्रतिष्ठा का फल बताया गया है, **ततो द्वन्द्वानभिघात:।**[४] – आसन-स्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने पर एक प्रकार की 'एनेस्थिशिया' अर्थात् बोधशून्यता होती है, जिससे शीतोष्णादि लक्षित नहीं होते। पीड़ा एक प्रकार की चंचलता है। स्थिरता द्वारा शारीरिक चंचलता भी दूर हो जाती है। यहाँ मुख्यत: भौतिक, इन्द्रियजन्य द्वन्द्वों पर विजय की बात कही गई है।

आसन-स्थैर्य के फलस्वरूप देह स्वस्थ होती है, थकान कम लगती है, और इच्छाशक्ति प्रबल होती है। आसन की स्थिरता के बाद ही प्राणायाम सम्भव है। ○○○

सन्दर्भ – १. योगसूत्र ४६ **२.** श्वेताश्वतर उपनिषद् २.८ **३.** योगसूत्र २.४७ **४.** वही २.४८

श्रीमाँ सारदा देवी का पत्र

७.५.१९१३, २४ वैशाख
जयरामबाटी

प्रिय बेटा,

तुम्हारा पत्र पाकर प्रसन्न हुई। मैं अच्छी हूँ। श्रीठाकुर को पुकारना। उनकी कृपा से क्रमश: मन शुद्ध होगा। अचानक क्या कुछ होता है? कितने ऋषि-मुनि आजीवन इतनी तपस्या करते हैं, उन लोगों का मन भी कभी-कभी चंचल हो जाता है ! इसीलिए साधना करनी पड़ती है। भगवान को पाने के लिए जो जितना अधिक साधना करेगा, वह उतना ही जल्दी शुद्ध होकर ईश्वर को प्राप्त करेगा। व्याकुल होकर रोना होगा, तभी तो मन शुद्ध होगा। ठाकुर के कृपाप्राप्त सभी क्या एक-समान हैं? साधना चाहिए। तुम मेरा आशीर्वाद ग्रहण करना। इति।

आशीर्वादिका
तुम्हारी माँ

पत्र पाने वाले का नाम और पता :
श्री निशिकुमार गांगुली, इब्राहिमपुर, त्रिपुरा

स्वच्छता का संकल्प

गर्मी के दिन। स्कूल से घर लौटते समय ईशान और उसके मित्रों को लगभग आधा घंटा लग जाता था। ईशान आठवीं कक्षा में पढ़ता था। उसके मित्र भी उसी की उम्र के थे। रास्ते में वे सब गन्ना खरीद लेते और मस्ती में गप्प मारते हुए, खाते हुए चलते।

स्कूल से घर लौटते हुए बहुत-सी छोटी-छोटी गलियों से गुजरना पड़ता था। उसमें से एक गली में उनके अध्यापक मिश्राजी भी रहते थे। मिश्राजी ने देखा कि ईशान और उसकी मित्र-मण्डली गन्ना खाकर वहीं गलियों में फेंक देते थे। कभी-कभी खाने के बाद वहीं थूक भी देते थे। मिश्राजी ने उन्हें एकबार समझाया कि इस प्रकार सड़कों और गलियों पर कचरा नहीं फेंकना चाहिए। ईशान ने कहा, ''मास्टरजी, झाड़ू मारनेवाला रोज आकर साफ कर देता है। सफाई तो हो ही रही है और झाड़ू मारनेवाले का तो काम ही प्रतिदिन सड़कों-गलियों को स्वच्छ रखना है।''

मास्टरजी ने उस समय उसे कुछ भी नहीं कहा। कुछ दिनों बाद स्कूल में नोटिस आया कि सभी कक्षा के विद्यार्थियों को स्वच्छता अभियान में भाग लेना है। आठवीं कक्षा के अध्यापक मिश्राजी ने ईशान और उसके मित्रों को वही गली साफ करने के लिए कहा, जिसे वे रोज गन्दा करते थे। ईशान और उसके मित्र वह गली साफ करने गए। उन्होंने देखा कि गली में बहुत कचरा पड़ा हुआ है और उनके फेंके हुए गन्ने के टुकड़े भी वहीं हैं। उन्होंने नाक में रुमाल बाँधकर साफ-सफाई करना शुरू की।

आज तक उन्होंने कभी साफ-सफाई का काम नहीं किया था। गन्दगी तो इतनी थी कि उनकी काम करने की इच्छा ही नहीं हो रही थी। किन्तु उनके अध्यापक मिश्राजी की उन पर कड़ी नजर थी। बड़ी मुश्किल से ईशान और उसके मित्रों ने दो घंटों तक साफ-सफाई का काम पूरा कर गली स्वच्छ कर दी। इतने में क्या हुआ कि एक घर की उपरी मंजिल से किसी ने कुछ कचरा फेंक दिया। गली पूरी साफ थी, किन्तु उस पर केवल अब वही कचरा दिखाई दे रहा था। बेचारे ईशान और उसके मित्रों ने बड़ी मेहनत से साफ-सफाई की थी। अब फिर से वह रास्ता खराब होने से उनको गुस्सा आ गया। ईशान ने तुरन्त उस कचरा फेंकनेवाले व्यक्ति से चिढ़कर कहा, ''क्या आप कचरा डस्टबिन में फेंक नहीं सकते? इस प्रकार आपको गली-सड़कें खराब नहीं करने चाहिए।''

जैसे ही ईशान ने ऐसा चिढ़कर कहा, उनके मास्टर मिश्राजी अपनी हँसी रोक नहीं सके। उन्होंने सभी छात्रों को बुलाकर कहा, ''आप लोग ही तो रोज जब स्कूल से छूटकर इस गली से जाते थे, इसे गन्दा कर देते थे। यहाँ साफ-सफाई कर आज आपलोगों ने कुछ नया पराक्रम नहीं किया है। जो कचरा आप यहाँ जमा करके जाते थे, उसे ही आपने साफ किया है।'' ईशान और उसके मित्रों को अब बात समझ में आने लगी।

उनके अध्यापक मिश्राजी ने कहा, ''हमारे नगरों में प्रतिदिन जो झाड़ू लगाते हैं, वे भी हमारे जैसे मनुष्य हैं। वे प्रतिदिन साफ-सफाई कर हमारे आसपास की जगह स्वच्छ रखते हैं। वे लोग यदि एक दिन भी काम करना बन्द कर दें, तो हमारा शहरों में निकलना तक दूभर हो जाएगा। वे भी हमारे समाज का एक अंग हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम यहाँ-वहाँ कचरा न फेंककर उनके कार्य में सहायता करें। इसके अलावा हम अपने आसपास का परिसर साफ-सुथरा रखेंगे, तो बीमारियाँ नहीं फैलेंगी, मच्छर नहीं होंगे। इस प्रकार स्वच्छता का बीड़ा सबको उठाना है। हमलोगों का ध्यान केवल अपने घर की साफ-सफाई तक रहता है। हम अपने घर के बाहर की गली-सड़कें साफ न भी करें, कम-से-कम इतना तो करें कि जहाँ-तहाँ कचरा न फेंकें।'' मास्टरजी की बात अब ठीक ढंग से बच्चों को समझ में आ गई और उन्होंने संकल्प लिया कि वे स्वच्छता अभियान में अपना योगदान देंगे। ○○○

मन्दिर और हमारा जीवन

स्वामी मेधजानन्द

कॉलेज से छूटने के बाद कुछ मित्र एक साथ जा रहे थे। उनमें से एक ने प्रस्ताव रखा कि आज कोई फिल्म देख ली जाए। सभी को यह बात जँच गई और वे सिनेमा-घर की ओर चल पड़े। तभी उनमें से एक को कुछ याद आया, "अरे! आज मंगलवार का दिन है, आज तो मन्दिर जाना है।" प्रत्येक मंगलवार की शाम को वह देवी के मन्दिर मत्था टेकने जाता है। उसने अपने मित्रों से कह दिया, "आपलोग आगे जाइए, मैं आज नहीं आ पाऊँगा, मुझे मन्दिर जाना है।" उसके मित्रों ने उसका मजाक उड़ाना शुरू कर दिया, "अरे, यह क्या देवी-देवताओं के चक्कर में पड़ा है। ये क्या कोई उम्र है तुम्हारी मन्दिर में जाने की? यह सब बुढ़ापे में करना होता है।" उसने शान्ति से अपने मित्रों की बातें सुन लीं और मन्दिर की ओर रवाना हुआ। रास्ते में मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मुझे भी उन लोगों के साथ चले जाना था, एक दिन मन्दिर नहीं गया तो क्या बिगड़ जाता है।"

मन्दिर पहुँचकर उसने हाथ-पैर धोए और देवी को प्रणाम किया। शाम की आरती भी शुरू हो गई। पन्द्रह मिनट में आरती पूरी हुई और वह प्रसाद लेकर मन्दिर के प्रांगण में आया। वहाँ बैठकर वह प्रसाद खाने लगा। वहाँ उसे एक अलग ही आनन्द का अनुभव होने लगा। उसका मन शान्त हो गया था। उसे कोई खेद नहीं था कि वह अपने मित्रों के साथ सिनेमा-घर न जा सका।

मन्दिर में जाने से क्या फायदा? क्या यह कोई उम्र है मन्दिर जाने की? इत्यादि अनेक प्रश्न युवाओं के मन में आते हैं। हम सभी लोग विचार-तरंगों के बारे में जानते हैं। जो व्यक्ति दुराचारी होता है, उसके पास अच्छे लोग जाना नहीं चाहते, क्योंकि उसके आसपास का वैचारिक वातावरण दूषित रहता है। ठीक वैसे ही, जब हम किसी वैज्ञानिक, उद्योगपति अथवा सफल व्यक्ति का भाषण सुनते हैं, तब हम उससे एक नई ऊर्जा प्राप्त करते हैं। यही बात मन्दिर के बारे में है। मन्दिर एक ऐसा स्थान है, जहाँ सदैव एक सात्त्विक, शान्त और सुखमय वातावरण बना रहता है। मन्दिर में आने वाले सभी लोग देवी-देवता के सम्मुख अपनी श्रद्धा निवेदित करते हैं, चाहे उसके पीछे उनका कोई भी कारण हो।

भगवान तो प्रत्येक स्थान पर हैं, फिर मन्दिर जाने की क्या आवश्यकता है – इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, "जहाँ लोग ईश्वर की उपासना करते हैं, वह स्थान पवित्र तन्मात्राओं (तरंगों) से पूर्ण हो जाता है। लोग प्रतिदिन वहाँ जाते हैं और वे जितना अधिक वहाँ जाते हैं, उतना ही वे पवित्र होते हैं, साथ ही वह स्थान भी अधिकाधिक पवित्र होता है। यदि किसी मनुष्य के मन में उतना सत्त्वगुण नहीं है और यदि वह भी वहाँ जाए, तो वह स्थान उस व्यक्ति को भी प्रभावित करेगा और उसके अन्दर सत्त्वगुण का उद्रेक कर देगा...किन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि धर्मात्मा लोगों के आवागमन पर ही उस स्थान की पवित्रता निर्भर करती है...मनुष्य ही उस स्थान को पवित्र बनाते हैं, उसके बाद उस स्थान की पवित्रता स्वयं ही मनुष्यों को पवित्र बनाती है।"

हमारे देश में व्यक्ति सुबह से शाम तक आजीविका के लिए कार्य करने के बाद सन्ध्या को ठीक समय मन्दिर में उपस्थित हो जाते हैं। गृहिणियाँ भी पूरा दिन घर का काम-काज कर शाम को मन्दिर में पहुँचती हैं। यह मानो अपनी बैटरी रिचार्ज करने के समान है। इसलिए मन्दिर जाने पर हम कुछ गँवाते नहीं, अपितु कार्य करने की नई ऊर्जा प्राप्त करते हैं। ईश्वर अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द के भण्डार हैं। अपनी चेतना को उनसे जोड़ने से हम भी उस अनन्त शक्ति और आनन्द के भागीदार बनते हैं। हम भले ही ईश्वर को न मानें, किन्तु विचार-तरंगों को तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि यह हम सबका अनुभव है।

गाँवों में हम देखते हैं कि मन्दिर एक सामाजिक और सांस्कृतिक भवन के समान होता है। शाम के समय किसान अपना हल घर में रखकर, हाथ-पैर धोकर मन्दिर पहुँच जाते हैं। गाँव की महिलाएँ भी अपना काम-काज निपटाकर वहाँ उपस्थित होती हैं। बच्चे खेलने के लिए मन्दिर आ जाते हैं। लगभग पूरा गाँव वहाँ जम जाता है। विद्वानों की चर्चा का केन्द्र-स्थल भी पहले मन्दिर ही रहता था। मन्दिर में आरती के बाद देवी-देवता को प्रणाम कर लोग एक-दूसरे का हालचाल पूछते हैं, सुख-दुख की बातें करते हैं। लोगों में एक सौहार्द और भाइचारे की भावना का निर्माण होता है। इससे एक आदर्श वातावरण की भी निर्मिति होती है। सचमुच मन्दिर भारतीय संस्कृति का अन्यतम वैशिष्ट्य है। ○○○

आध्यात्मिक जिज्ञासा (२४)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते है, किन्तु ऐसी बहुत-सी बातें है, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते है। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

प्रश्न – महाराज, लीलाप्रसंग में उल्लेख है कि स्वामीजी ने हरमोहन को 'हाथी-नारायण, महावत-नारायण' की कहानी को सात दिनों तक समझाया था। स्वामीजी क्या कहना चाहते थे?

महाराज – स्वामीजी ने सात दिनों तक इस कहानी के रहस्य को समझाया था। क्या मुझमें समझाने की वह क्षमता है?

– सात दिन नहीं भी हो, तो एक दिन तो हो सकता है।

महाराज – महावत-नारायण एक व्यक्ति को कह रहा था – 'दूर हट जाओ, दूर हट जाओ।' लेकिन वह व्यक्ति दूर नहीं हटा। क्योंकि वह सोचता था कि हाथी तो नारायण है। हाथी नारायण हो सकता है, किन्तु महावत भी तो नारायण है। उसकी बात क्यों नहीं सुनेगा? अर्थात् सर्वत्र नारायण-दर्शन करने से सबके साथ एक समान व्यवहार होगा, ऐसी बात नहीं है। ठाकुर ने एक दूसरी उपमा दी है। किसी जल से हाथ-पैर धोया जाता है, किसी जल से स्नान किया जाता है और किसी जल को पीया जाता है। इतने प्रकार के जल हैं। उसी प्रकार सबके नारायण होने पर भी सबके साथ एक जैसा व्यवहार नहीं होता है।

– अर्थात् एक-एक नारायण के साथ एक-एक प्रकार का व्यवहार होता है।

महाराज – हाँ।

– तब क्या भेद-भाव और नारायण-भाव दोनों एक साथ रहेगा?

महाराज – वैसा क्यों नहीं रहेगा? यदि तुम लाल, नीला या पीला कुर्ता पहनो, तो क्या तुम बदल जाओगे? तुम तो तुम्हीं रहोगे। व्यवहार में भेद हुआ, किन्तु स्वरूप तो एक ही रहा। भागवत में एक श्लोक है –

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः।। (१०/३/१९)

कहते हैं – हे बहुरूपधारी विभो ! तुम्हारे द्वारा ही इस जगत की सृष्टि, पालन और संहार हो रहा है, किन्तु तुम निर्गुण और निष्क्रिय हो। तब तुम्हारे द्वारा ये सब क्यों हो रहा है? उत्तर में कहते हैं – तुम्हारे द्वारा नहीं हो रहा है, गुण के द्वारा हो रहा है। गुण तुम्हारा आश्रय करके है, इसलिये गुण की क्रिया तुममें आरोपित हो रही है। इसीलिये ब्रह्म और ईश्वर भिन्न नहीं हैं। ईश्वर का सृष्टि-पालन-संहार कार्य, यह ब्रह्म पर आरोपित है।

(१५)

प्रश्न – ठाकुर कहते हैं – "सभी धर्म सत्य हैं। जितने मत उतने पथ।" किन्तु प्रत्येक धर्म के कुछ मौलिक नियम हैं।

महाराज – नियम ! जो नियमवादी हैं, वे नियम की बात करते हैं।

– महाराज, कह रहा हूँ कि बौद्ध धर्म और हिन्दूधर्म में जन्मान्तरवाद है, किन्तु इस्लाम और ईसाइयों में जन्मान्तरवाद नहीं है।

महाराज – अच्छा, बौद्धधर्म और हिन्दूधर्म को ही देखो। बौद्धधर्म निर्वाण कहता है। हिन्दूधर्म कहता है मुक्ति या अज्ञाननिवृत्ति। इसमें भेद कहाँ हुआ? सबने कहा है कि वासनाशून्य होना होगा। इसमें समानता है न?

– नहीं महाराज। ईसाई और इस्लाम धर्म में जन्मान्तरवाद नहीं है।

महाराज – उनमें जन्मान्तरवाद नहीं है, किन्तु निर्वासना होने के लिये वहाँ भी कहा गया है। यदि अनुसन्धान करो, तो भेद भी मिलेगा और समानता भी मिलगी।

– सेमेटिक (सामी) धर्म जन्मान्तर नहीं मानता।

महाराज – धर्म मानने पर सभी लोगों को मृत्यु के बाद अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। यदि कोई मृत्यु के बाद के अस्तित्व को नहीं मानता है, तो उसका कोई धर्म नहीं है। सभी धर्म मानते हैं कि मृत्यु के बाद अस्तित्व है। बौद्ध धर्म भी मानता है, हिन्दूधर्म और इस्लामधर्म भी मानता है। इस्लाम तो नया कुछ नहीं है। वह सेमेटिक धर्म है। यहुदियों का जो धर्म है, वही ईसाइयों और मुसलमानों का भी धर्म है। ये सभी सेमेटिक हैं।

– कोई कहता है जन्मान्तर है, कोई कहता है जन्मान्तर नहीं है। इसमें सामंजस्य कहाँ है?

महाराज – अच्छा, तो किसके मतानुसार जन्मान्तर नहीं है?

– मुस्लिम और ईसाईयों के मतानुसार नहीं है।

महाराज – बौद्धों के मतानुसार जन्मान्तर है। सेमेटिक धर्म में जन्मान्तर नहीं है, किन्तु अस्तित्व है। शरीर के बाद जीव का अस्तित्व है। नहीं तो, कौन स्वर्ग में जायेगा और कौन नर्क में जायेगा? यदि जीव का अस्तित्व हो, तो जीव शरीर नहीं है। शरीर तो जलकर राख हो जायेगा। जो देह के अतीत है, वही जीव है। उस विषय में सबका एक ही विचार है। बोलो, हुआ कि नहीं? मिलाकर देख लो।

प्रश्न – आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और ईश्वरप्राप्ति, क्या सभी एक ही हैं?

महाराज – आत्मज्ञान का अर्थ है, अपने स्वरूप का ज्ञान होना। ब्रह्मज्ञान का अर्थ है, (ब्रह्म अर्थात् बृहत्) संसार के मूल कारण सर्वव्यापी ब्रह्म का ज्ञान होना – ''येन जातानि जीवन्ति... ब्रह्म''। ईश्वरप्राप्ति का अर्थ है, भग अर्थात् षड् ऐश्वर्यसम्पन्न होकर जो संसार में सर्वत्र व्याप्त है, उसका ज्ञान होना। ये तीनों शब्दों का अर्थ है।

प्रश्न – महाराज, श्रीरामकृष्णवचनामृत में ठाकुर कहते हैं – भक्ति के परिपक्व होने पर भाव होता है, भाव के परिपक्व होने पर महाभाव या प्रेम होता है और महाभाव होने पर वस्तुप्राप्ति (ईश्वरदर्शन) होती है। किन्तु जीव का केवल भाव ही होता है। अर्थात् जीव का महाभाव या प्रेम नहीं होता। महाभाव नहीं होने से ईश्वरदर्शन नहीं होता। तब जीव की क्या अवस्था है?

महाराज – जीव को महाभाव नहीं होता है, इसका अर्थ है कि निम्न, अधम अधिकारी को नहीं होता है। अवतार-पुरुषों को महाभाव होता है। वे लोग महाभाव होने पर भी संसार में रह सकते हैं। श्रीचैतन्यदेव और श्रीरामकृष्ण को महाभाव हुआ था। तब भी वे लोग जगत में रहे। सामान्य जीव को महाभाव होने पर वह पुन: उससे वापस नहीं आता। सामान्य जीव को तो होता ही नहीं, वापस आने की क्या बात है ! इसलिये केवल भाव ही होता है।

प्रश्न – महाराज, आज गुड फ्राइडे है। गुड क्यों कहते हैं महाराज?

महाराज – गुड इसलिये कहते हैं, क्योंकि ईसामसीह ने लोककल्याण के लिये अपना जीवन बलिदान किया था। स्वयं कैद होकर सूली पर चढ़े थे। घटना इस प्रकार है – उन्हें बहुत देर तक क्रूश पर चढ़ाकर रखा गया था, किन्तु मृत्यु नहीं हो रही है, सैनिक पहरा दे रहे हैं। मृत्यु नहीं होने से उनलोगों को देर हो रही है। तब एक ने आकर कुल्हाणी से पांजर पर प्रहार किया कि इससे शीघ्र मृत्यु हो जायेगी।

– इसे शोकदिवस भी कहते हैं।

महाराज – शोक क्यों होगा? उन्होंने तो जगत्कल्याण के लिये अपना जीवन बलिदान किया था। लोकहितार्थ था, इसलिये इस फ्राइडे को 'गुड फ्राइडे' कहते हैं।

– उस समय जेन्टाइल बर्बर, असभ्य थे।

महाराज – तब वे सब ही सभ्य थे, ऐसा कहते हैं ! वे लोग यहूदियों को मनुष्य रूप में गणना नहीं करते थे। वे लोग राजा की जाति के थे और यहूदी पराधीन जाति थी। जैसे अंग्रेज भारतीयों को मनुष्य रूप में गणना नहीं करते थे। **(क्रमशः)**

त्याग ही संन्यास जीवन का भूषण है । जो जितना त्याग कर सकता है, वह उतना ही भगवान की ओर अग्रसर होता है । सच्चा संन्यासी होना अत्यन्त कठिन है । केवल विरजा होम करके गेरुआ पहन लेने से ही कोई संन्यासी नहीं हो जाता । जो तन-मन-वचन से सभी कामनाओं का परित्याग कर देता है, वही सच्चा संन्यासी है ।

– स्वामी शिवानन्द (महापुरुष महाराज)

दान की महिमा

स्वामी आत्मानन्द

समस्त धर्मग्रन्थ और नीतिशास्त्र दान की महिमा गाते नहीं थकते । ऊपरी दृष्टि से भी लगता है कि दान एक पुण्य और महान् कर्म है । पर हममें से बहुतों को दान का तत्त्व मालूम नहीं रहता, इसलिए दान की क्रिया से हम अपने आपको लाभान्वित नहीं कर पाते ।

सामान्यत: दान का जो रूप प्रचलित है, वह है – भूखे को भोजन देना, नंगे को वस्त्र, किसी धर्मार्थ संस्था को अर्थ या द्रव्य से सहायता देना, कहीं धर्मशाला बनवा देना, कुआँ खुदवा देना, मन्दिर बनवा देना, आदि आदि । ये सब कार्य अच्छे हैं, यदि विवेकपूर्वक किये जायँ । परन्तु यदि दान की क्रिया के पीछे विवेक का अभाव हो, तो दाता और ग्रहीता दोनों-के-दोनों लाभ से वंचित हो जाते हैं ।

दान का प्रभाव दो प्रकार से होता है – एक तो ग्रहीता पर और दूसरा, स्वयं दाता पर । दान की क्रिया से ये दोनों ही प्रभावित होते हैं । दान लेकर ग्रहीता में कुण्ठा भी आ सकती है और धन्यता का भाव भी । उसी प्रकार दाता भी दान देकर दानी का दम्भ अपने भीतर अनुभव कर सकता है और कृतकृत्यता का बोध भी । श्रेष्ठ दान वह है, जिसमें दाता कृतकृत्यता का अनुभव करे और ग्रहीता धन्यता का । राम-चरित-मानस में काकभुशुण्डि के माध्यम से गरुड़ को ज्ञान-दान किया गया है । उस प्रसंग में दाता और ग्रहीता – दोनों में परस्पर कृतकृत्यता और धन्यता का अनुभव-बोध है ।

इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का विचार बड़ा ही मननीय है । वे कहते हैं – "उच्च स्थान पर खड़े होकर और हाथ में कुछ पैसे लेकर यह न कहो, ऐ भिखारी, आओ यह लो । परन्तु इस बात के लिए उपकार मानो कि तुम्हारे सामने वह गरीब है, जिसे दान देकर तुम अपने आप की सहायता कर सकते हो । सौभाग्य पाने वाले का नहीं, पर वास्तव में देने वाले का है । उसका आभार मानो कि उसने तुम्हें संसार में अपनी उदारता और दया प्रकट करने का अवसर दिया और इस प्रकार तुम शुद्ध और पूर्ण बन सके ।"

परन्तु दान देने के पीछे हमारी वृत्ति सामान्यतया ऐसी नहीं होती । हम तो थोड़ा-सा देकर बहुत-सा एहसान लेना चाहते हैं । उससे बेचारा ग्रहीता दब-सा जाता है और उसके जीवन में एक ऐसी कुण्ठा जन्म लेती है, जो दाता के प्रति उसमें कृतज्ञता का भाव भरने के बदले आक्रोश का भाव भर देती है । हम एक गरीब लड़के को पढ़ने में थोड़ी-सी सहायता क्या करते हैं कि जीवन-भर अपने दान का ढिंढोरा पीटते रहते हैं । किसी संस्था को दान देते हैं, तो नाम और सम्मान की आशा रखते हैं । धर्म की दृष्टि से देखें, तो हम दान को पुण्य के रूप में भँजाना चाहते हैं । इससे दान व्यवसाय का रूप ले लेता है, जिसमें लेन-देन का भाव बना रहता है । ऐसे दान से दाता को भले ही नाम-यश मिल जाये तथा ग्रहीता व्यक्ति या संस्था को भौतिक दृष्टि से लाभ हो, पर दाता को दान का वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता ।

दान का वास्तविक मर्म है – दाता के स्वार्थ-बोध का विस्तार । अभी व्यक्ति केवल अपने ही परिवार को अपना मानता है, पर जब वह दान देता है, तो मानो अपने स्वार्थ को विस्तृत करता है – अब एक बड़े दायरे को अपना मानने की चेष्टा करता है । इस प्रकार दान नि:स्वार्थता का पाठ है । यदि यह भाव रहे कि परोपकार में अपना ही उपकार है, तो दान दाता के जीवन में सही-सही लाभ लाकर उपस्थित करता है ।

अमेरिका में राकफेलर अपने मित्र के कहने पर स्वामी विवेकानन्द से मिलने आये । राकफेलर में तब दान की वृत्ति नहीं थी । स्वामीजी ने उपदेश के स्वर में उनसे कहा कि भगवान ने जब तुमको इतनी सम्पत्ति दी है, तब तुम्हें चाहिए कि अपने को उसका ट्रस्टी समझते हुए उसका उपयोग जनता की भलाई के लिए करो । राकफेलर इस प्रकार उपदेश सुनने के आदी नहीं थे । वे रुष्ट होकर चले गये । कुछ ही दिन बाद वे फिर स्वामीजी से मिलने आये और उनकी मेज पर एक चेक रखते हुए बोले – "Here, take it and now you should thank me for this." – "यह लीजिए और अब इसके लिए मुझे धन्यवाद दीजिए ।" स्वामीजी ने उस चेक को बिना देखे राकफेलर को लौटाते हुए कहा – "Rather you should thank me for this." – "बल्कि तुम्हीं मुझे धन्यवाद दो !" स्वामीजी का तात्पर्य था कि मैंने तुम्हें दिशाबोध दिया है, इसलिए तुम्हीं मुझे धन्यवाद दोगे । वह एक बड़ी राशि का चेक था, जो अमेरिका की किसी संस्था के नाम काटा गया था । यही राकफेलर का सर्वप्रथम दान था । वह स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा थी, जिसने राकफेलर को सही मायने में दानी बनाया । दान का वास्तविक मर्म भी यही है । ○○○

साधना में निष्ठा

स्वामी परमानन्द

स्वामी परमानन्द

(स्वामी परमानन्दजी स्वामी विवेकानन्द के शिष्य थे। अमेरिका में अनेक वर्ष रहकर उन्होंने वेदान्त का प्रचार किया। प्रस्तुत लेख एक आध्यात्मिक जिज्ञासु को लिखे उनके उपदेशों का अंश है।)

चट्टान के समान अपने विश्वास पर दृढ़ रहो। अपने इष्ट के प्रति सदैव सजग, प्रफुल्ल और निष्ठावान रहो। सच्चे, साहसी और नि:स्वार्थी बनो। भयभीत मत होओ और पीछे मत मुड़ो, बल्कि आगे बढ़ते रहो। सभी परिस्थितियों में धीर और दृढ़ रहना ही मुख्य बात है। मानवीय सहायता के पीछे मत पड़ो, केवल ईश्वरीय कृपा पर निर्भर रहो। वे अवश्य तुम्हारी रक्षा करेंगे। उन्हें प्रार्थना करो और उन्हीं पर निर्भर रहो। मानवीय सहायता अनिश्चित होती है। मनुष्यरूपी मित्र स्वार्थी होते हैं और विश्वासघात करते हैं, किन्तु ईश्वर हमारे दैवी मित्र हैं, वे केवल प्रेम के लिए प्रेम करते हैं। स्वामी विवेकानन्द अपने एक पत्र में कहते हैं, "केवल परमात्मा ही उचित जानते हैं। मूर्ख लोगों को व्यर्थ बकने दो। हम न ही सहायता ढूँढ़ते हैं, न उसका त्याग करते हैं। हम उस परमेश्वर के दास हैं। क्षुद्र मनुष्यों की तुच्छ चेष्टाओं को हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। आगे बढ़ो ! सैकड़ों युगों के संघर्ष से चरित्र का निर्माण होता है। निराश न होओ। सत्य का एक शब्द भी व्यर्थ नहीं जा सकता, भले ही वह युगों तक कूड़े के नीचे दबा रहे, किन्तु देर-सबेर वह अवश्य प्रकट होगा। सत्य अविनाशी है, पुण्य अविनाशी है और पवित्रता अविनाशी है। मुझे सच्चे मनुष्य की आवश्यकता है, मुझे मतान्तर वालों का जमघट नहीं चाहिए। मेरे बच्चे ! दृढ़ होओ। किसी की सहायता की अपेक्षा मत करो। क्या ईश्वर सभी मानवीय सहायताओं की अपेक्षा अनन्तगुना महानतर नहीं हैं? पवित्र बनो, ईश्वर पर विश्वास रखो, सदैव उन पर ही निर्भर रहो, तब तुम ठीक रास्ते पर आ जाओगे और तुम्हारे विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकेगा।"

कभी-कभी दुख और बाधाएँ हमारे चरित्र को दृढ़तर करने के लिए आती हैं। वे मानो परीक्षा के समान हैं। हमें उनमें सफल होने के लिए तैयार रहना है। ऐसा समझो कि ये बाधाएँ चरित्र-निर्माण के लिए बहुत उपयोगी हैं। बाधाएँ जितना हमारे सामने आएँगी, हम रक्षा के लिए माँ का उतना ही स्मरण करेंगे। इसीलिए भक्तिमती माता कुन्ती ने भगवान से प्रार्थना की थी कि वे उन्हें सदैव दुख-कष्ट दें, ताकि उन्हें भगवान का कभी विस्मरण न हो। सामान्यत: जब सब कुछ अनुकूल और सुखद होता है, तब हम ईश्वर को भूल जाते हैं। इसलिए दुख एक शिक्षक के रूप में हमें अपने कर्तव्यों का स्मरण कराता है और यह आशीर्वादस्वरूप है।

अपने इष्ट देवता की आराधना के लिए हममें सभी परिस्थितियों का सामना करने का साहस होना चाहिए। याद रखो, स्वामी विवेकानन्द ने 'मेरे गुरुदेव' में क्या कहा है, "यदि सम्पूर्ण विश्व तुम्हें चूर-चूर करना चाहे, क्या तब भी तुम अपने आदर्शों पर अडिग रहकर कार्य करोगे?" इस प्रकार के साहस और आत्म-त्याग की आवश्यकता है। दुर्बल लोग सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते। जीवन में हमारा कार्य निर्भीकतापूर्वक होना चाहिए। भय मत करो। दिव्यता और पवित्रता तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने आप पर विश्वास करो और संघर्ष करो।

जो नि:स्वार्थी है, उसे भय की क्या आवश्यकता? स्वार्थपरता ही सब भय और दुखों का कारण है। जो नि:स्वार्थी है, उसके लिए कोई पाप नहीं है। यह जानकर सब भय और चिन्ताओं से मुक्त होओ। धर्म हमें निर्भयता की शिक्षा देता है तथा मन और कर्म की पवित्रता से ही व्यक्ति निर्भय हो सकता है। भूतकाल समाप्त और बीत गया है, किन्तु वर्तमान जीवित है। इसलिए वर्तमान समय में सब कुछ नि:स्वार्थता से करते जाओ।

कर्म का पथ इतना कठिन और जटिल है कि विवेकी लोग भी भ्रमित हो जाते हैं। कभी-कभी अवसाद आ जाता है, किन्तु हमें धीर और स्थिर रहने का प्रयत्न करना होगा। ईश्वर के कार्य गूढ़ होते हैं। जब तक हम जीवित हैं, हमें संघर्ष करना है। यदि हम हजार बार भी असफल हो जाते हैं, तो कोई बात नहीं, हमें पुन: नई ऊर्जा और साहस से उठना है। जीवन एक संघर्ष है, हमें सभी परिस्थितियों का सामना करने का साहस होना चाहिए। अपने गुरु के उपदेशों का पालन करने का हम प्रयत्न करें। बल! शक्ति! किसी कोने में जाकर रोने की आवश्यकता नहीं है।

उठो, सभी दुर्बलताओं को उखाड़ फेंक दो। आत्मा अमर है। आत्मा में कोई पाप नहीं है। भय किस बात का है? साहसपूर्वक बढ़ते चलो। भय मत करो, किन्तु बढ़ते चलो। तुम मुक्त हो, अमर हो। कोई तुम्हें दुर्बल, दुष्ट अथवा पापी नहीं कहे। तुम वह नहीं हो। तुम पवित्र हो, पूर्ण हो। एक सुन्दर भजन है :

हे मन! भय किस बात का है, जब मैंने उनके चरणों में शरण ली है?

वे सर्वशक्तिमान हैं और उनकी कृपा अपार है। शत्रु मेरा अपमान और यातना कर क्या बिगाड़ेंगे?

मैं यदि मर भी जाऊँ, तो उनका नाम गुणगान करते हुए मरूँगा।

मैंने कृपावाणी सुनी है कि यदि मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनके साथ अमर आनन्द में रहूँगा। यह उनकी प्रतिज्ञा है।

अपने ह्रदय के अन्तस्तल में मैं अपने प्राणाधार को रखूँगा और उनके साथ यह जीवन दिव्यानन्द और सुख में बिताऊँगा।

इसलिए उनके चरणों में शरण लेने के बाद कोई भय नहीं है, केवल सुख और आनन्द ही है। सचमुच वही अति भाग्यशाली है, जिसके पास भक्ति है। भगवान कहते हैं, "मैं मुक्ति भले ही दे दूँ, किन्तु भक्ति नहीं देता, भक्ति देने से मैं भक्त के अधीन हो जाता हूँ।" सच्ची भक्ति प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। जिसके पास यह है, वह बिना किसी मान-अपमान के शान्ति और स्थिरतापूर्वक अपने साधन-भजन में लगा रहता है और वह धन्य है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में संघर्ष और शिथिलता का ऐसा समय आता है, जब उसे सब कुछ अन्धकार और कष्टमय प्रतीत होता है। किन्तु यह जान लो कि इन अवस्थाओं से गुजरे बिना सच्चे चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए हमें साहसी और धैर्यवान होना चाहिए। यह संसार फूलों की सेज नहीं है, जैसा कि कुछ मूर्ख लोग सोचते हैं। यह काँटों से भरा मार्ग है और हमें अति सावधानीपूर्वक यहाँ चलना है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए सजग होना अच्छा ही नहीं, अपितु अत्यावश्यक है। यह तो तुम जानते हो कि सजग रहने से चोर घर में नहीं आ सकते। इसलिए सदैव सजग और सावधान रहने का प्रयत्न करो, तब तुम अपनी अनमोल सम्पत्ति से कभी वंचित नहीं होगे। इसके अलावा स्वयं पर और अपने इष्ट-देवता पर दृढ़-विश्वास रखो।

सब दुर्बलताएँ उखाड़ फेंक दो और सत्य के उज्ज्वल प्रकाश में कदम रखो, तब तुम्हें नवीन दृष्टिकोण प्राप्त होगा। यह स्मरण रहे कि हम न किसी व्यक्ति के लिए सत्पथ का अनुसरण करें और न हीं किसी के लिए उसका परित्याग करें, किन्तु उस आदर्श की प्राप्ति के लिए ही उसका अनुसरण करें और अन्तिम समय तक उस पर दृढ़ रहें। भगवान से प्रार्थना करो कि वे हमें शक्ति और प्रकाश दें, ताकि हम उचित मार्ग पर चलकर सदैव उनकी भक्ति कर सकें। कोई बात नहीं, यदि इस मार्ग पर हमारी मृत्यु हो जाए, किन्तु किसी भी परिस्थिति में दुर्बलतावश हम उस मार्ग का त्याग न करें।

शरीर और मन में उतार-चढ़ाव होते ही रहते हैं। इसके लिए हमें निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमें धीर और स्थिर रहना होगा। श्रीरामकृष्ण देव के जुलाहे और खानदानी किसान का दृष्टान्त तुम्हें स्मरण होगा। जुलाहे को अपने व्यवसाय में अधिक मुनाफा नहीं हुआ, इसलिए अधिक मुनाफे के लिए उसने खेती करना शुरू किया। किन्तु एक-दो वर्ष वर्षा न होने से वह निराश हो गया और पुन: अपने पुराने व्यवसाय पर लग गया। जबकि खानदानी किसान अन्य कोई व्यवसाय नहीं जानता, यदि बारह वर्ष भी वर्षा न हो, वह हल लेकर अपने खेत में ही जाएगा।

इसी प्रकार दो तरह के भक्त होते हैं। एक जन्म से ही भगवत् प्रेमी होता है, जबकि दूसरा भक्ति के लिए प्रयत्न मात्र करता है। पहले भक्त के ऊपर यदि विपत्तियों का पहाड़ भी गिर पड़े अथवा जीवन-भर साधन-भजन करने पर ईश्वर-प्राप्ति नहीं भी हुई, तो भी वह ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति को नहीं छोड़ता, जबकि अन्य भक्त के मार्ग में थोड़ी-सी भी विपत्ति आती है, तो वह अपने भक्ति-पथ पर डगमगा जाता है और पुन: संसार की ओर मुख मोड़ लेता है।

स्थिर-मन अत्यन्त आवश्यक है, उसके बिना कोई प्रगति सम्भव नहीं है। बाह्य वस्तुओं पर जितना हो सके, कम-से-कम निर्भर रहने का प्रयास करो, तब तुम्हें अधिकाधिक आन्तरिक शक्ति प्राप्त होगी। निन्दा-स्तुति की परवाह मत करो, दूसरे लोग क्या कहते हैं अथवा करते हैं – इस पर ध्यान मत दो। मान-अपमान से बिना विचलित हुए धीरतापूर्वक चलते रहो। गीता में भगवान

की वाणी का सदैव स्मरण करो, ''उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्''– अपने द्वारा अपना उद्धार करो।

किसी भी परिस्थिति में दुर्बलता अथवा निराशा के वश न होओ। धीर, सजग और सच्चे वीर बनो। उठो और साहसपूर्वक कहो, ''मैं बलवान हूँ, मैं शुद्ध और पवित्र हूँ।'' समस्त दुर्बलताएँ तुरन्त समाप्त हो जाएँगी, समस्त बन्धन कट जाएँगे और तुम शान्त, सुखी और धन्य हो जाओगे।

किसी बाहरी सहायता की अपेक्षा मत करो। अन्तर्मुखी होओ और ईश्वर को अपने भीतर देखो। अपनी हृदयवेदी पर अपने इष्ट-देवता को विराजमान करो और दिन-रात उनकी आराधना करो। जीवन में यही महानतम कार्य है, जो हम कर सकते हैं।

सांसारिक वस्तुओं में सच्चा सुख नहीं है। हो भी कैसे सकता है, जब इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है? सुख क्षणभंगुर है और दुख भी क्षणभंगुर है। वे आते हैं और जाते हैं, किन्तु स्थायी नहीं रहते। इसलिए यह जानकर कि वे कुछ ही दिनों के लिए हैं, उन्हें सहन करो। जो सुख और दुख, दोनों में अविचलित रहता है, वही सच्चा वीर है। धैर्य रखो, धैर्य के द्वारा ही अन्ततः सब पर विजय प्राप्त होती है। हमें साहसी योद्धा के समान दृढ़ विश्वास के साथ खड़ा होना है। शरीर सदैव नहीं रहता, किन्तु आत्मबल और चरित्र रहता है। इसलिए अपना पूरा ध्यान चरित्र-निर्माण में लगाओ।

तुम पवित्र और मुक्त हो, दुर्बलता तुम्हें शोभा नहीं देती। अपने आप पर विश्वास रखो। ऐसा विश्वास कि तुम्हारी सत्ता का प्रत्येक अणु तुम्हारे अनुसार चल सके। संशयी व्यक्ति कभी भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता, वही नास्तिक है।'' यह समझ लो कि यदि तुम्हारा अपने आप पर विश्वास नहीं है, तो तुम्हारा ईश्वर पर भी विश्वास नहीं है।

भगवान हमसे क्या कराना चाहते हैं, हम कदाचित् यह नहीं समझ पाएँ। किन्तु हम यह जानते हैं कि हम उनकी सन्तान हैं और इतना निश्चित है कि वे हमारी रक्षा और मार्गदर्शन करेंगे। यही तो हम सब चाहते हैं। चाहे सम्पूर्ण विश्व हमारे विरुद्ध खड़ा हो जाए, तो भी हमें उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। हमें साहसी, विश्वासी और सच्चा योद्धा होना है। कर्म का पथ बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा है, किन्तु महान त्याग के बिना कोई भी महान कार्य नहीं हुआ है।

उठो, जागो और इस बाह्य संसार से मुख मोड़ लो। अपने भीतर की गहराइयों में जाओ। वहाँ तुम्हें वास्तविक शान्ति और विश्राम मिलेगा। यह जान लो कि शान्ति केवल भीतर ही प्राप्त होगी और कहीं नहीं। जब तक हम स्वयं शान्त नहीं होते, अन्य कोई भी स्थान हमें शान्ति नहीं दे सकता। इसलिए अपने अन्तस्तल में उस शान्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। तब तुम मुक्त हो जाओगे और बाहरी कोई भी विघ्न तुम्हारी शान्ति को विचलित नहीं कर सकेगा। भय मत करो। अपने आप पर विश्वास करो। आगे बढ़ो। सत्य की प्राप्ति हेतु वीर के समान मृत्यु को प्राप्त होओ और तुम्हारी आत्मा शान्ति को प्राप्त होगी। ○○○

अनुकरण, कायर की तरह अनुकरण करके कोई उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता । वह तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है । जब मनुष्य स्वयं से घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिये कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है । ... अतः भाइयो, आत्मविश्वासी बनो । अपने पूर्वजों के नाम से स्वयं को लज्जित नहीं, गौरवान्वित समझो । याद रहे, किसी का अनुकरण कदापि न करो । कदापि नहीं । जब तुम दूसरों के विचारों का अनुकरण करते हो, तो अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते हो । यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषय में भी यदि दूसरों के आज्ञाधीन होकर कार्य करोगे, तो अपनी सारी शक्ति, यहाँ तक कि विचार की शक्ति भी खो बैठोगे । अपने स्वयं के प्रयत्नों के द्वारा अपने अन्दर की शक्तियों का विकास करो । पर देखो, दूसरों का अनुकरण न करो । हाँ, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो । हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा । ... औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो । जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है ।

– स्वामी विवेकानन्द

दिव्य-पुरुष ईसा

रामेश्वर नन्द, रायगढ़

संसार में जब कभी भी धर्म की हानि हुई, जब कभी भी परमेश्वर की संतान अपने परम पिता को भूल-सी गई, जब भी लोग प्रकाश से अंधकार में भटकने लगे, तब-तब कभी धर्म की पुन:स्थापना करने, कभी अधर्म का विनाश करने, तो कभी अनभिज्ञ लोगों का मार्गदर्शन करने के लिये उस जगत्-नियन्ता के मन में करुणा जाग उठी, स्नेह जाग उठा। संसार में विभ्रमित अपनी संतान को पुन: सन्मार्ग और सत्य के पथ पर लाने के लिये ऐसे प्रत्येक अवसर पर उस सृष्टिकर्ता तथा सर्वशक्तिमान ने अपनी अनश्वरता से नश्वरता को स्वीकार किया। असीम ने अपने को ससीम बना लिया। निराकार, स्वयं आकार की सीमाओं में बँध गया।

ईश्वर की यह कृपा किसी देश या जाति-विशेष तक कभी भी सीमित न रही। सीमाएँ एवं जाति-भेद तो मानवकृत हैं। उसकी दृष्टि में सभी उसकी ही संतान हैं। सब पर उसका समान स्नेह है।

ऐसा ही एक समय था, आज से दो हजार वर्ष पूर्व, जब पेलेस्टाइन में एक महापुरुष ने जन्म लिया। इनके जन्म को लेकर कई चमत्कारिक घटनाएँ और कथाएँ प्रसिद्ध हैं, पर हमें उन विस्तारों में न जाकर, यहाँ उनके जीवन और शिक्षा पर ही विशेष प्रकाश डालना है। इस बार परमेश्वर ने अपने को एक पवित्र कुमारी के गर्भ से प्रकट किया। इस बालक के जन्म को लेकर बहुत पहले ही कई भविष्यवक्ताओं द्वारा भविष्यवाणी की जा चुकी थी, जिनमें भविष्यवक्ता याशायाह का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यह रोम सम्राट आगस्टस के समय की बात है। ईसा के जन्म के साथ ही दूर-दूर से कुछ महात्मा उनके दर्शनार्थ आने लगे। इस बात का पता जब तत्कालीन शासक हेरोदस को लगा, तो वह बड़ा ही चिन्तित हुआ, क्योंकि उनके दर्शनार्थ आनेवाले भक्तों ने कहा था कि यहूदियों के राजा का जन्म हुआ है। किसी नए राजा के जन्म का समाचार पाकर, हेरोदस भी ठीक उसी प्रकार चिन्तित हुआ, जिस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म से कंस हुआ था। राजा हेरोदस ने इस विपत्ति को टालने के लिये तत्कालीन दो वर्ष या उससे कम आयु के सारे बच्चों को मरवा डाला।

किन्तु दैवी इच्छा तो कुछ और ही थी। ईश्वर की कृपा से यह बालक, उसका अहित करनेवाली समस्त कठिनाइयों से किसी-न-किसी प्रकार बचता ही गया।

किसी भी महापुरुष के जीवन में उनके परिवार या पारिवारिक धर्म तथा वातावरण का गहन प्रभाव होता है। ईसा के माता और पिता दोनों बड़े धर्मनिष्ठ थे। पिता जोसेफ अत्यन्त दयालु स्वभाव के थे। कदाचित् यही कारण है कि ईसा के जीवन में ईश्वर के प्रति पितृभाव की साधना प्रस्फुटित हुई।

उनके बाल्यकाल से लेकर ३० वर्ष की आयु पर्यन्त का विशेष विवरण कहीं भी ऐतिहासिक दृष्टि से उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी थोड़ा-सा उपलब्ध है, वह केवल उनके उपदेश-संग्रह की पुस्तक 'नव विधान' में है। उनकी शिक्षा कहाँ हुई, अपने शैशव से यौवन काल तक वे कहाँ रहे, किस स्थिति में रहे, यह सब अज्ञात है। केवल उनकी बारह वर्ष की आयु की एक घटना का विवरण संत लूका ने अपनी पुस्तक में किया है। यह घटना छोटी होती हुई भी ईसा के दिव्य व्यक्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश डालती है।

एक दिन की घटना है, जब उनके माता-पिता प्रतिवर्ष की भाँति, फसह (Passover) का पर्व मनाकर १२ वर्षीय ईसा को साथ लेकर, यरुशलेम से वापस लौट रहे थे, तब बहुत दूर निकल जाने पर देखा कि उनका पुत्र साथ न था। माता-पिता बड़े चिन्तित हुए। उन दिनों यातायात के आधुनिक साधन तो थे नहीं, अत: वे पैदल ही पुन: यरुशलेम की ओर लौट पड़े। तीसरे दिन जब वे अपनी चिंतापूर्ण लंबी यात्रा से उस मन्दिर में पहुँचे, जहाँ उन्होंने पर्व मनाया था, तो अपने पुत्र को विद्वान उपदेशकों और शक्तियों से चर्चा एवं प्रश्नोत्तर करते देखकर चकित रह गये। स्नेह से झिड़कते हुए माता मरियम ने कहा – "हे पुत्र, तूने हमसे क्यों ऐसा व्यवहार किया? देख, तेरे पिता और मैं कुढ़ते हुए तुझे ढूँढ़ते थे।" तब उस बारह वर्षीय बालक का उत्तर स्पष्टत: प्रमाणित करता है कि उनका पुत्र कोई साधारण संसारी न था। उसका जन्म अवश्य ही किसी महान कार्य के लिये हुआ था। उस बालक ने उत्तर दिया – "आप मुझे क्यों ढूँढ़ रहे थे? क्या नहीं जानते थे कि मुझे अपने पिता के भवन में होना है?" (लूका २: ४८-४९)

किन्तु छोटे मुँह की बात समझकर उस समय किसी ने भी उनकी बातों पर विशेष ध्यान न दिया, यद्यपि उस बालक ने

स्पष्ट बता दिया था कि उसके पिता जोसेफ नहीं, कोई दूसरे थे, अर्थात् वे जो मन्दिर, मस्जिद या गिरजे में थे, जिनकी अर्चना में सारे लोग व्यस्त थे।

इस घटना के पश्चात् ईसा का ३० वर्ष तक की आयु का समय कहाँ और किस प्रकार बीता, यह सर्वथा अज्ञात है। संभव है यह अज्ञात काल उनकी साधना या तपस्या का काल रहा हो। हो सकता है, इस समय ईसा ने अज्ञात परिव्राजक का जीवन बिताकर विभिन्न स्थानों से शिक्षा ग्रहण की हो। कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है कि ईसा भारत भी आए थे। इस बात का उल्लेख लक्ष्मी नारायण साहू ने अपनी पुस्तक 'उड़ीसा' में भी किया है। इस्लाम मत के अनुसार तो ईसा की मृत्यु, सूली में न होकर, स्वाभाविक ढंग से कश्मीर में हुई थी। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि इतने बड़े महापुरुष का जीवन अकारण ही अन्धकार में नहीं खो गया था। जिस दिव्यात्मा के उपदेशों को आज संसार के इतने लोग मानते हैं, उसने अपने जीवन के बहुमूल्य दिनों को यों ही न गँवाया होगा। पर इस विषय में कोई स्पष्ट मत न होने के कारण अभी तक उनके जीवन का यह भाग विवादास्पद ही है।

अब इन अठारह वर्षों के लम्बे अज्ञात काल के पश्चात् ईसा से हमारी भेंट तब होती है, जब वे यूहन्ना से बपतिस्मा लेने आते हैं। यद्यपि स्वयं यूहन्ना भी एक बड़े सिद्ध पुरुष थे, किन्तु ईसा को देखकर वे भी अत्यन्त नम्रता से कहते हैं, "मुझे तेरे हाथ से बपतिस्मा लेने की आवश्यकता है, और तू मेरे पास आया है !"(मत्ती ३:१४) यह बपतिस्मा लेने की क्रिया ठीक हिन्दूधर्म की दीक्षा लेने की क्रिया जैसी है। किन्तु ईसा ने अत्यन्त नम्रता पूर्वक उत्तर दिया, "अब तो ऐसा ही होने दें।" इसी प्रकार यहाँ उल्लेखनीय है कि यद्यपि भगवान श्रीरामकृष्ण स्वयं अवतार थे, किन्तु उन्होंने भी तोतापुरी से दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने का अर्थ जिस प्रकार हिन्दू धर्म में मानसिक और आत्मिक शुद्धि की ओर बढ़ने के लिए गुरु-कृपा प्राप्त करना है, ठीक उसी प्रकार ईसाई धर्म में भी उसका अर्थ आध्यात्मिक पुनर्जन्म के समकक्ष है। बपतिस्मा देने वाले संत यूहन्ना को यह बहुत पहले से ज्ञात हो गया था कि संसार को नया मार्ग दिखाने वाला और मुक्ति की नई शिक्षा देनेवाला पृथ्वी पर आ चुका है। इसीलिए वह संत स्वयं ही घोषणा करता घूम रहा था और यह प्रचार करता रहता था, "मेरे बाद जो आने वाला है, जो मुझसे शक्तिमान है, मैं इस योग्य नहीं कि झुककर उसके जूतों का बन्द खोलूँ। मैंने तुम लोगों को जल से बपतिस्मा दिया है, पर वह तुम्हें पवित्र आत्मा से बपतिस्मा देगा।" (मरकूस १:७-८)

बपतिस्मा प्राप्त करने के पश्चात् ईसा ने लगातार चालीस दिन और चालीस रात तक उपवास किया। उपवास का अर्थ यहाँ केवल भूखे रहना नहीं है, अपितु उपासना से भी है। इन चालीस दिनों की कठिन उपासना और भारतीय शब्दों में 'दीक्षा' के बाद ईसा की आध्यात्मिक भक्ति और भी अधिक दृढ़ तथा उज्ज्वल हो गई। इसी बीच शैतान ने उनकी विभिन्न प्रकार से परीक्षा ली, संसार की प्रत्येक प्रलोभक वस्तु का लालच प्रस्तुत किया, किन्तु जिस प्रकार भगवान बुद्ध 'मार' की कठिन परीक्षा और प्रलोभन से नहीं डिगे, ठीक उसी प्रकार ईसा भी अपने आदर्शों से च्युत नहीं हुये। इस कठिन परीक्षा से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने शैतान (माया) पर पूर्णत: विजय प्राप्त कर ली थी। दूसरे शब्दों में, शैतान द्वारा प्रस्तावित वे सारी चीजें साधक को उसकी उच्चतम साधना से विचलित कर देने वाली सिद्धियाँ ही थीं। अन्त में निराश होकर शैतान ने ईसा को संसार के सभी सुख दिखाकर कहा – "यदि तू मुझे प्रणाम करे, तो यह सब तेरा हो जाएगा।" ईसा ने उसे उत्तर दिया – "लिखा है, तू अपने प्रभु परमेश्वर को प्रणाम कर और केवल उसी की उपासना कर।" (लूका ४:७-८)

ईसा की अब पूर्ण परीक्षा हो चुकी थी। शैतान, ईसा की एकनिष्ठ और अचल भक्ति देखकर, सर्वथा परास्त हो चुका था। यह शैतान है कौन? संसार के भयानक दलदल में फँसाने और लुभानेवाली प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य मानों अप्रत्यक्ष रूप से शैतान हैं। हिन्दू दर्शन की 'माया', जरथुस्त्र का 'अहिर्मन', बुद्धदेव का 'मार' और ईसाई-धर्म और इस्लाम में वर्णित एवं बहु चर्चित 'शैतान' एक ही हैं। ये मनुष्य को प्रतिक्षण ज्ञात या अज्ञात रूप से अपने मोह-पाश में फँसाने अष्टपद की भाँति सतत प्रयत्नशील रहते हैं। इन पर विजय पानेवाला ही पुरुषार्थी है, वही परमेश्वर तक पहुँच पाता है। ऐसे ही ईसा भी एकनिष्ठ भक्तिसम्पन्न और पुरुषार्थ से परिपूर्ण थे। अत्यन्त दरिद्र परिवार में उनका जन्म हुआ था। शैशव से ही भीषण कठिनाइयों में उनका जीवन बीता। फिर भी अपने दृढ़ चरित्र और विश्वास के कारण ही वे शैतान के समस्त मायावी प्रलोभनों से न डिगे, अटल और दृढ़ बने रहे। ईसा के उपदेशों से उनका जीवन कहीं अधिक प्रेरक है।

बपतिस्मा, उपासना और शैतान की परीक्षा के उपरान्त अब हमारे सामने ईसा का एक सर्वथा नया रूप आता है। साधक ईसा अब मंत्रद्रष्टा ऋषि बन गये हैं। अब वे हमारे सामने आते हैं गुरु बनकर, पथ-प्रदर्शक बनकर और ईश्वर

का पुत्र बनकर ! उनका सारा जीवन अब केवल गरीबों, रोगियों और दुखियों की सेवा में बीत जाता है। तीस वर्ष से लेकर तैंतीस वर्ष तक, तीन वर्ष उन्होंने उपदेश, सेवा, शिष्य-निर्माण, नये मार्ग का प्रवर्तन, प्राचीन परम्पराओं के विरुद्ध सुधार आदि अनेक कार्य किये। किन्तु कभी अपने लिये कुछ नहीं किया, अपनी चिंता कभी नहीं की। न उनके रहने का ठिकाना था, न सोने का। आज यहाँ, तो कल वहाँ। सदा सेवा-रत रहते थे। उनके इस जीवन से प्रभावित होकर एक ने कहा था – 'हे गुरु, जहाँ कहीं तू जाएगा, तेरा अनुसरण करुँगा।'' ईसा ने उत्तर दिया – ''लोमड़ियों की खोह और आकाश के पक्षियों के बसेरे होते हैं, परन्तु मनुष्य के पुत्र के लिये कहीं सिर धरने की भी जगह नहीं है।'' (मत्ती ८:१९-२०)

ईसा के जीवन की दूसरी विशेषता है उनकी उपदेश प्रणाली। उन्होंने कोई संस्थात्मक शिक्षा नहीं दी। उनकी शिक्षा नदी के किनारे, पहाड़ पर, मैदान में, मन्दिर में या जहाँ कहीं भी जिज्ञासु या भक्त मिल जाता, वहीं होती। अन्य बड़ी विशेषता थी, ईसा की करुणा। वे भगवान बुद्ध की भाँति दयालु थे। समाज के सारे उपेक्षित वर्ग, अपमानित, कलंकित और दलित लोग सब उनके लिए समान थे। संसार-सागर में पाप-ताप के बोझ से डूबते लोगों को देखकर उनका हृदय भर जाता था। उन्होंने ऐसे ही लोगों को आश्वासन देते हुए कहा था – ''ऐ परिश्रमी और बोझ से दबे हुए लोगो! मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा। मेरा जूआ अपने ऊपर उठा लो और मुझसे सीखो, क्योंकि मैं विनम्र और दीन हूँ, तुम अपने मन में विश्राम पाओगे। क्योंकि मेरा जूआ सहज और मेरा बोझ हल्का है।'' (मत्ती ११: २८-३०)

ईसा के इन शब्दों से हम उनके व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। संसार में बोझ से दबे लोगों के प्रति कितनी दया थी उनमें ! कितने विनम्र थे वे ! 'मैं विनम्र और दीन हूँ।' ठीक यही शब्द स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा था – ''मैं कोई दार्शनिक नहीं हूँ, तत्त्वज्ञानी नहीं हूँ। मैं दीन हूँ और दीनों को प्रेम करता हूँ।''

ईसा जहाँ एक ओर संसार के ऐसे थके-हारे लोगों को विश्राम देने की बात करते हैं, वहीं स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि मेरा जूआ अपने ऊपर उठा लो, क्योंकि वह सहज और हल्का है। जूआ हल्का होने का अर्थ है त्याग। जो त्याग नहीं कर सकेगा, उसका जीवन कैसे हल्का होगा। दूसरी ओर वे विनम्र और दीन होने की बात भी करते हैं। ऐसा ही आश्वासन भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।९.३०।।

इस प्रकार का आश्वासन न केवल ईसा ने प्रत्युत प्रत्येक धर्माचार्य ने समय-समय पर दिया है। किन्तु अनन्य भक्ति क्या इतनी सहज है? 'मेरा जूआ उठा लो'' का अर्थ है, संसार का सारा बोझ उतार लो। यह स्थितप्रज्ञ की स्थिति क्या सामान्य बात है?

ईसा के उपदेश यद्यपि हमें अत्यन्त सहज प्रतीत होते हैं और प्रचार-साधन की दृष्टि से उसे हिन्दू धर्म से कहीं अधिक सहज एवं क्षमाशील धर्म बताया जाता है, किन्तु वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। संसार को यदि आज मृत्यु के दरवाजे पर लाकर किसी ने बैठा दिया है, तो ईसा के नाम पर बड़े-बड़े प्रचारक और शान्ति के अग्रदूत भेजने वाले राष्ट्रों ने। वे एक प्रकार से ईसा के मूल उपदेशों को पूर्णतः भूल चुके हैं या फिर समझ ही नहीं सके हैं। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में कहा था – ''ईसा के उपदेश आज इस देश में बहुत ही कम समझे जाते हैं। यदि आप क्षमा करें, तो मैं कहूँगा कि वे कभी भी ठीक से नहीं समझे गये।'' (वि. सा. १/३२१)

ईसा के उपदेशों में जो सबसे बड़ी नवीनता है, वह है उनकी नई साधना-पद्धति, जिसके द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि ईश्वर भयानक, ईर्ष्यालु तथा केवल दण्ड देने वाला नहीं है, वह अत्यन्त दयालु और सबका पिता है। इसके पूर्व यहूदियों में 'यहोवा' (ईश्वर) की बड़ी भयंकर कल्पना थी। ईसा का धर्म, सरल शब्दों में, मानवतावादी धर्म है। उनकी शिक्षा में भारतीय दर्शन के समान लोक-परलोक, जीवन-पुनर्जीवन, आत्मा के अनादि या सादि होने का समाधान, सृष्टि की उत्पत्ति या अन्त तथा ईश्वर के अस्तित्व को लेकर विशद व्याख्या कहीं भी नहीं है। किन्तु उनके उपदेशों में प्रेम और करुणा का सागर जहाँ-तहाँ लहरा रहा है। उनके शब्दों में हृदय को छू लेने वाली अद्भुत शक्ति है। ईसा की उपदेश-प्रणाली बहुत कुछ भगवान बुद्ध की तरह थी। मनुष्य मात्र के प्रति उनके मन में असीम प्रेम था। इसीलिए उन्होंने कहा भी था – ''...कि वैद्य भले चंगों के लिये नहीं, परन्तु रोगियों के लिये अवश्य है। मैं धार्मिकों को नहीं, परन्तु पापियों के मन के परिवर्तन के लिए बुलाने आया हूँ।'' (लूका ५ : ३१-३२)

इस प्रकार अनवरत तीन वर्षों तक उपदेश देते और

शेष भाग अगले पृष्ठ पर

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

श्रवणादिभिरुद्दीप्तज्ञानाग्निपरितापित: ।
जीवस्सर्वमलान्मुक्त: स्वर्णवद्द्योतते स्वयम् ।।६६।।

पदच्छेद – *श्रवणादिभि: उद्दीप्त-ज्ञानाग्नि-परितापित: जीव: सर्व-मलात् मुक्त: स्वर्णवत् द्योतते स्वयम् ।*

अन्वयार्थ – (जब) **जीव:** जीव **श्रवण-आदिभि:** श्रवण आदि से **उद्दीप्त-** प्रज्वलित **ज्ञानाग्नि-** ज्ञानाग्नि में **परितापित:** भलीभाँति तप्त होकर **सर्व-मलात्** सारी मलिनताओं से **मुक्त:** मुक्त हो जाता है, (तब वह) **स्वर्णवत्** स्वर्ण की भाँति **स्वयम्** स्वयं ही **द्योतते** चमकने लगता है ।

श्लोकार्थ – जब जीव श्रवण आदि द्वारा प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में भलीभाँति तप्त होता है, तो वह सारी मलिनताओं से मुक्त होकर स्वर्ण की भाँति स्वयं ही चमकने लगता है ।

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयतेऽखिलम् ।।६७।।

पदच्छेद – *हृदाकाश-उदित: हि आत्मा बोधभानु: तम: अपहृत् सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयते अखिलम् ।*

अन्वयार्थ – **हृदाकाश-** हृदय-आकाश में **उदित:** उदित हुए **आत्मा** आत्मा-रूपी **बोधभानु:** ज्ञान-सूर्य द्वारा **हि तम:** अज्ञान-अन्धकार का **अपहृत्** नाश हो जाने पर **सर्वव्यापी** सर्वव्यापी **सर्वधारी** सबका आधारभूत **भाति** प्रकाशित हो उठता है, (और) **अखिलम्** सारे जगत् को **भासयते** प्रकाशित करता है ।

श्लोकार्थ – हृदय-आकाश में उदित हुए आत्मा-रूपी ज्ञान-सूर्य द्वारा अज्ञान-अन्धकार का नाश हो जाने पर, सर्वव्यापी तथा सबका आधारभूत (आत्मा या ब्रह्म) प्रकाशित हो उठता है और सारे जगत् को प्रकाशित करता है ।

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
य: स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रिय:
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ।।६८।।

पदच्छेद – *दिक्-देश-कालादि अनपेक्ष्य सर्वगम् शीतादिहृत् नित्यसुखम् निरञ्जनम् य: स्व-आत्मतीर्थम् भजते विनिष्क्रिय: स: सर्ववित् सर्वगत: अमृत: भवेत् ।*

अन्वयार्थ – य: जो **दिक्-देश-कालादि** दिशा-देश-काल आदि से **अनपेक्ष्य** निरपेक्ष, **सर्वगम्** सर्वव्यापी **शीतादिहृत्** शीत आदि को हरनेवाले **नित्यसुखम्** नित्य आनन्द-स्वरूप **निरञ्जनम्** निर्मल **स्व-** अपने **आत्मतीर्थम्** आत्मा-रूपी तीर्थ का **भजते** सेवन करता हैं; **स:** वह **विनिष्क्रिय:** पूर्णत: निष्क्रिय होकर **सर्ववित्** सर्वज्ञ **सर्वगत:** सर्वव्यापी (तथा) **अमृत:** अमृत-स्वरूप **भवेत्** हो जाता है ।

श्लोकार्थ – जो दिशा-देश-काल आदि से निरपेक्ष, सर्वव्यापी, शीत आदि को हरनेवाले, नित्य आनन्द-स्वरूप तथा निर्मल अपने आत्मा-रूपी तीर्थ का सेवन करता है, वह (बाहर से) पूर्णत: निष्क्रिय होकर (अन्तर में) सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा अमृत-स्वरूप हो जाता है । **(समाप्त)**

पिछले पृष्ठ का शेष भाग

लोगों की सेवा करते, इस महापुरुष ने कई लोगों को नई आशा, नया उत्साह और नये प्राण दिये। किन्तु मानवता के हत्यारे इसे सह न सके और एक दिन जब यह महापुरुष केवल ३३ वर्ष का था, उसे सूली पर टाँग दिया। अन्त समय तक भी ईसा के मुँह से वही दया और क्षमा भरी आवाज सुनाई पड़ी – "हे पिता, इन्हें क्षमा कर दो, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।"

तभी तो ईसा के जीवन के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक महिला से कहा था, "देवि, यदि मैं ईसा के जीवन काल में पेलेस्टाइन में होता, तो उनके चरणों को अपने आँसुओं से नहीं, बल्कि अपने हृदय के रक्त से धोता।"

पर इसका अर्थ यह नहीं कि कोई धर्म किसी दूसरे धर्म से श्रेष्ठ है, या कोई दूसरा धर्म हमारे कल्याण में अधिक सहायक हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द ही हमें सावधान करते हुए कहते हैं – "ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना है, न हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना है। पर प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात करके पुष्टिलाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार विकसित हो ।" सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा करना तो ठीक है, पर भगवान श्रीकृष्ण की इस वाणी को स्मरण रखते हुए कि – "**स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।**" ○○○

आपका व्यवहार कैसा हो?

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

जब हमलोग किसी से बातचीत करते हैं, तो प्राय: अपनी-अपनी बात ही सुनाना चाहते हैं, दूसरे की बात सुनने की क्षमता हमारी कम हो जाती है। हम अपने उद्वेगों को, आवेगों को बहुत अधिक प्रकट करते हैं और दूसरों की शिक्षा-दीक्षा को कम धारण करना चाहते हैं। सिखाने का उल्लास अधिक होता है और सीखने का कम। यह एक मानसिक निर्बलता है।

कभी किसी को अपना अभिप्राय देना हो, तो आप थोड़ी-सी सावधानी रखें। उसकी पूरी बात सुन लें कि वह क्या कहना चाहता है, क्या करना चाहता है और उसकी बुद्धि किस दिशा में सोच रही है, उसका लक्ष्य क्या है। यदि सामने वाले के अभिप्राय को आप पहले ठीक-ठीक समझ लेंगे तो आप उस पर ठीक निर्णय दे सकेंगे और यदि दूसरे का अभिप्राय सुने-समझे बिना ही अपना निर्णय दे देंगे, तो कभी उसकी और अपनी हानि भी कर सकते हैं। जब सामनेवाले की बुद्धि हमको मिल जाती है, तब हमारी बुद्धि दोगुनी हो जाती है। यदि हम सामनेवाले की बुद्धि को ग्रहण नहीं करते हैं, तो हमारी बुद्धि एकांगी रहती है। इसलिए कोई भी निर्णय करने के पूर्व सामनेवाले की सब बात सुनना-समझना आवश्यक होता है। शीघ्रता न करें।

लोग हमें प्रणाम करते हैं। कोई कभी चलते-चलते प्रणाम करता है, तो कोई कभी पीछे से पाँव पकड़ लेता है। उनकी श्रद्धा तो ठीक है, परन्तु जिसका वे पाँव पकड़ रहे हैं, उससे वह गिर जाएगा, यह विचार उनके मन में नहीं आता है। वे परिणाम पर विचार किये बिना काम करते हैं। यह मैंने दृष्टान्त दिया। आपमें से कोई यदि ऐसा करते हों, तो हम मना नहीं करते हैं, हम स्वयं पाँव पकड़नेवालों से बहुत चौकन्ने रहते हैं। प्राय: लोग आकर जब अपने दोनों हाथों से प्रणाम करते हैं, तो असावधानी से उनके नाखून हमारे पाँव में गड़ जाते हैं। उनकी चरण-स्पर्श करने की श्रद्धा तो होती है, परन्तु उनके नाखून हमको लग जायेंगे, इस पर उनकी दृष्टि नहीं रहती। हम समझते हैं, वह व्यापार भी ऐसे ही करता होगा। ग्राहक पर क्या प्रभाव पड़ेगा, आगे भाव गिरेगा कि बढ़ेगा, यह सोचे बिना वह धुँआधार सौदा कर लेता होगा और घाटा उठाता होगा। जिसे प्रणाम करने तक का ढंग नहीं है, वह व्यापार में भी सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक बात में, प्रत्येक क्रिया में सावधानी हमारे लिये बहुत कल्याणकारी होती है।

व्यवहार के दो ही रूप हैं – एक लोगों से बात करने का ढंग और दूसरा हम मन से उसका हित-चिन्तन कर रहे हैं या अहित। हमारे शास्त्र की दृष्टि से व्यवहार के दो ही अंग हैं। आप भले ही घूँसा दिखाइये। लेकिन आपके मन में यह भाव हो कि यह जो काम करने जा रहे हैं, वह इसके लिये अनिष्टकारी है, हम इसको रोक लेंगे, तो ठीक है। किन्तु भले ही आप हाथ जोड़िये, परन्तु यदि आपके मन में हो कि बाबा पिंड छोड़ो ! भले तुम नरक में जाओ, तो यह ठीक नहीं है। हाथ जोड़ने की क्रिया भी यदि सामनेवाले को नरक में जाने के लिये है, तो आप व्यवहार में पवित्र नहीं हैं और घूँसा दिखाने की क्रिया भी यदि दूसरे का हित करनेवाली है, तो आप एक पुण्य-कर्म कर रहे हैं। पुण्य-पाप की उत्पत्ति वस्तु से या क्रिया से नहीं होती। आपके भाव का संयोग उस क्रिया में कैसा है, इससे होती है।

पहले वाणी की बात लेते हैं। आप ईश्वर से कैसे बातचीत करेंगे, यदि आपको अपने पिताजी से ही बातचीत करना नहीं आता है? आप राधा-रानी से या सीता महारानी से शिष्टाचार से कैसे बात करेंगे, यदि आप अपनी माँ से ठीक से बात नहीं करते? सबसे पहले व्यवहार में जो शिक्षा दी जाती है, उसमें बच्चे को बोलना सिखाते हैं। आपको बोलना आता है, बोलने में आप बड़े माहिर हैं, तो आप थोड़ा-सा इस पर ध्यान दें। क्या आप सच बोलते हैं? हम आपका बहुत आदर करते हैं कि आप बोलने में बहुत सच्चे हैं। परन्तु, एक बात पर आप कभी ध्यान देते हैं? केवल बोलना ही धर्म नहीं है। मौन रहना भी धर्म है।

नारायण ! आपने यदि बोलने का धर्म सीखा है और मौन रहने का धर्म नहीं सीखा है, तो आपको बोलना नहीं आता है। यदि केवल बोलना ही धर्म होता, मौन रहना धर्म नहीं होता, तो आपको जो सत्य मालूम पड़ता, उसे बेधड़क बोलते जाते। परन्तु केवल बोलना ही धर्म नहीं है, मौन रहना भी धर्म है। यदि आप बोलने के परिणाम पर ध्यान नहीं देंगे, तो आप बोलते जायेंगे और वह आपके, आपके मित्र, परिवार और समाज के लिए बहुत अनिष्टकर हो जायेगा। इसलिये कब बोलना और कब मौन रहना है,

यह सीखना चाहिए। बोलने की अपेक्षा मौन श्रेष्ठ है। बल्कि बोलना तो वहाँ चाहिए, जहाँ बोलना अनिवार्य है। व्यक्ति, परिवार, समाज और अपने को यदि कोई हानि पहुँचती हो, उस हानि से बचाने के लिए आप अवश्य बोलिये, परन्तु, यदि कोई हानि न होती हो, तो बोलने की आवश्यकता नहीं है।

अच्छा, अब और थोड़ी छूट देते हैं। आप बोलिये, परन्तु जिससे लाभ पहुँचता हो। हानि से बचाने के लिये बोलना, बहुत कम बोलना है और लाभ पहुँचाने के लिए बोलना, कुछ अधिक बोलना है। जिससे दूसरे को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र को, मानवता को लाभ पहुँचता हो, वह बोलिये।

एक सज्जन एक दिन बात कर रहे थे। उनसे कोई अच्छी-सी बात पूछी गयी थी। उसके उत्तर में उन्होंने कहा – कोई भी अच्छी-से-अच्छी बात हो, तो उसे यूँ ही नहीं मान लेना चाहिए। एक बार तो उसका खण्डन कर ही देना चाहिए। परन्तु देखो, अच्छी बात कहनेवाले के ऊपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। वह एक बार तो कह देगा, तुम्हारा खण्डन भी सह लेगा, लेकिन, दूसरी बार तुमको कोई अच्छी हितकारी बात, वह कहने की हिम्मत नही करेगा। सोचेगा कि कहने की क्या जरूरत है?

अच्छा, बोलने में थोड़ी शक्कर मिलाने की आवश्यकता रहती है। जैसे, गुजराती लोग करेले का साग बनाते हैं, तो उसमें भी शक्कर डाल देते हैं। यदि आपकी जीभ पर कोई करेले जैसी कड़वाहट हो, तो एक शहद की शीशी अपनी जेब में रखिये और बोलने के पहले दो-बूँद अपनी जीभ पर टपका लीजिए। माने वाणी मीठी बोलिये। केवल सच बोलना ही सब कुछ नहीं है। वाणी से लाभ और तत्काल सुख मिले। परिणाम-सुख पर दृष्टि रखें, तो बुद्धिमत्ता तो है, परन्तु वर्तमान सुख पर अगर दृष्टि रखें कि सुनने वाले के मुँह में तो हम अमृत नहीं डाल सकते, लेकिन कान में उसके अमृत डाल रहे हैं – **'सत्यं हितं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** – वाद-विवाद में अपना समय व्यर्थ जाता है। इसमें समय नहीं खोना चाहिए। इससे वाणी, हृदय का अपव्यय और दूसरों से वैमनस्य होता है।

कुँए में से जितना अधिक पानी बाहर निकलता है, उतना ही भीतर से निर्मल, स्वच्छ जल धरती में से कुँए में आता है। आप अपनी मधुरता को, प्रियता को, अपने व्यवहार में जितना अधिक बहाएँगे, आपके हृदय में आनन्द, प्रियता, मधुरता उतनी ही अधिक विकसित होगी। जितना अधिक व्यय करेंगे, वह कम नहीं होगी, उसका स्रोत खुलता जायेगा। आपमें मधु का झरना, रस का झरना बहने लगेगा, उससे आपकी वाणी पूर्ण हो जायेगी।

'अभिसंवाद' माने जिससे वाद-विवाद पैदा होता हो। पहले वाद-विवाद करनेवाले लोग, केवल वाणी का ही अपव्यय करते थे। अब तो कागज और लोगों के श्रम का भी अपव्यय करते हैं। उसे पढ़कर लोग पक्ष-विपक्ष में हो जाते हैं। अत: **वादो ना अवलम्ब्यः बाहुल्यावकाशात्** – वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसमें, अभी तो जबान लड़ती है, फिर कहीं हाथ लड़ने लग गये, फिर चार-पाँच लोग इधर-उधर से आ गये और चण्ड-मुण्ड सम्मेलन हो गया। वाद-विवाद की बात को काट देना चाहिए। यदि घर में दो बच्चे विवाद करने लगें, तो बढ़िया-सी खाने की कोई चीज उनके सामने रख देनी चाहिए कि पहले खा लो, उसके बाद कोई दूसरी बात छेड़ देनी चाहिये, जिससे दोनों विवाद भूलकर कहानी सुनने लगें।

वाणी निर्मल बोलनी चाहिए। कोई उसमें वासना की मलिनता नहीं हो। आपको इस सम्बन्ध में एक घटना सुनाता हूँ। एकबार मैं हनुमान प्रसाद पोद्दार जी के घर में ठहरा हुआ था। मैं प्राय: वहीं ठहरता था और खाता भी था। हमारा-उनका सम्बन्ध सन् १९३५-३६ से है। एक दिन उनकी पत्नी रूठ गईं। हमारा-उनका चौका एक, खाने की जगह एक, वे स्वयं ही अपने हाथ से भोजन बनाती थीं, ब्राह्मण को नहीं बनाने देती थीं। मैंने पूछा, आज क्यों रूठ गयी हैं? क्या उनको कपड़ा, जेवर चाहिए, कोई मांग है, जिसकी पूर्ति के लिए सत्याग्रह की हैं? उनकी लड़की ने बताया, हमारी माँ अपनी मांग पूरी करवाने के लिये नहीं रूठ सकतीं। आप क्या कहते हैं? आज पिताजी लोगों के साथ गप्प हाँकने में ऐसे लग गये कि न स्नान किया, न सन्ध्या-वन्दन किया, न चाय पी। अब इतनी देर हो गयी। दस-ग्यारह बज गये। अब उनके सिर में दर्द होने लगेगा। जुकाम हो जायेगा। इसलिए माँ नाराज हो गयीं कि आप जब स्नान, सन्ध्या-वन्दन नहीं करते, चाय नहीं पीते, तो जाओ मैं रोटी नहीं बनाऊँगी। उन्होंने पति के कल्याण के लिये ऐसा किया। अत: हम जीवन में सबसे अच्छा, प्रिय और हितकर व्यवहार करें। (आनन्द बोध से साभार)

OOO

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (२४)

स्वामी भास्करानन्द

अनुवाद : ब्र. चिदात्मचैतन्य

स्वामी प्रभानन्द महाराज विषयक स्मृतियाँ

केतकी महाराज सदैव एक आदर्शवादी युवा के समान थे। वे जब महाविद्यालय में छात्र थे, तब १९२०-२१ ई. में भारतीय असहयोग आन्दोलन में सक्रिय थे। अँग्रेजों से अपने देश को स्वतन्त्र करने के लिए भारत के अन्य नवयुवकों की भाँति वे भी अपना जीवन बलिदान करने के लिए कृत संकल्प थे।

एक अन्य युवक के साथ केतकी महाराज ने 'अँग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रान्तिकारी योजनाओं के संचालन हेतु गुप्त बैठकें आयोजित करने के लिए' ढाका शहर में एक छोटा-सा मकान किराये पर लिया था। पुलिस एवं जनता से अपने वास्तविक उद्देश्य को छिपाने के लिए उन दोनों में से एक बहुत देर तक स्वर-संगीत का ऊँचे स्वर में अभ्यास करते थे। उन दिनों महात्मा गाँधी ने अहिंसा आन्दोलन का आरम्भ किया था। उस आन्दोलन का प्रतीक चरखा था। महात्मा गाँधी के हजारों अनुयाइयों ने सूत-निर्माण के लिए उच्च ध्वनि वाले चरखों का उपयोग प्रारम्भ किया था। ये सूत हाथकरघा के द्वारा भारतीयों के लिए मोटा वस्त्र बनाने में उपयोग किये जाते थे।

केतकी महाराज और उनके मित्र भी उन दिनों चरखा लाए। वे दोनों दिन-रात असमय शोर मचाते हुये चरखा चलाने लगे, ताकि पड़ोसी और पुलिस उन्हें गाँधीजी के अहिंसा का समर्थक समझें ! किन्तु उनका संगीत-अभ्यास और चरखा चलाना कुछ अधिक ही हो गया। पड़ोसियों ने उनके उच्च संगीत और चरखा चलाने की तीव्र ध्वनि का विरोध किया।

जब भी वे दोनों असमय में संगीत का अभ्यास शुरू करते, तब कुछ पड़ोसी उनके मकान पर पत्थर फेंकने लगते। एक दिन एक आंग्ल-भारतीय पड़ोसी उन पर इतना क्रोधित हो गया कि उनके घर में प्रवेश कर उन्हें अपनी बन्दुक से डराते हुए कहा कि यदि वे लोग अपने चरखे की आवाज बन्द नहीं करते, तो वह उन दोनों को गोली मार देगा। केतकी महाराज ने खड़े होकर छाती दिखाकर कहा, ''यदि तुममे साहस है, तो मुझे गोली मार दो, लेकिन मैं चरखा बन्द नहीं करूँगा।''

''उस अँग्रेज को लगा कि ये दोनों युवक निडर हैं और इनको अधिक उकसाने से इन्हें रोकना असम्भव होगा। वह अपशब्द कहकर चुपचाप चला गया। केतकी को लगा कि अब यह स्थान छोड़ देना चाहिये, क्योंकि वह अँग्रेज अवश्य ही उनकी पुलिस में शिकायत करेगा और पुलिस पहले से ही राजनीतिक गतिविधियों के सम्बन्ध में उन्हें खोज रही है, वह शीघ्र आकर उन्हें किसी बहाने बन्दी बना देगी। इस घटना के कुछ दिनों बाद वे लोग घुमक्कड़ों की तरह यत्र-तत्र रहने लगे, क्योंकि पुलिस उन दोनों का निरन्तर पीछा कर रही थी।'' (उद्धृत अंश स्वामी लोकेश्वरानन्द के एक लेख से लिये गये हैं।)

इसी समय उन दोनों ने स्थानीय रामकृष्ण मिशन के केन्द्र में भी जाना शुरू किया। स्वामी विवेकानन्द और श्रीरामकृष्ण देव के प्रति उनकी बुहत श्रद्धा थी। आश्रम से अधिक सम्पर्क होने से उन्हें धीरे-धीरे यह विश्वास हुआ कि सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा देशभक्ति से श्रेष्ठतर है। रामकृष्ण मिशन का आदर्श – देश, धर्म, वर्ण या जाति के भेदभाव के बिना सम्पूर्ण मानव जाति की 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' करना – उनलोगों को बहुत अच्छा लगा। उन दोनों में से आयु में बड़े केतकी ने रामकृष्ण मिशन में साधु बनने का निश्चय किया। वे रामकृष्ण मिशन के ढाका आश्रम में सम्मिलित हुए और केतकी महाराज के नाम से कहे जाने लगे। संन्यास दीक्षा के बाद उनका नाम स्वामी प्रभानन्द-१ हुआ।

उस समय ढाका आश्रम में सूचना मिली कि कुछ खासी लोग उत्सुक हैं कि उनके पहाड़ी क्षेत्रों में कोई संस्था विद्यालय प्रारम्भ करे। वे पूर्णत: विश्वस्त होना चाहते थे कि उनके बच्चे किसी साम्प्रदायिक धर्मप्रचार के बहकावे में न पड़ें। केतकी महाराज को ढाका आश्रम द्वारा वहाँ जाने तथा खासी लोगों के लिए उस प्रकार के विद्यालय आरम्भ करने के लिए कहा गया। इस प्रकार केतकी महाराज खासी पर्वतीय अंचल में आये।

दिनोदिन अत्यधिक परिश्रम के कारण केतकी महाराज का स्वास्थ्य खराब हो गया। अन्त में वे पूर्णत: असमर्थ हो गये। लेकिन अपनी इस दस वर्ष की अल्पावधि में उन्होंने बहुत कार्य किया। उन्होंने शेला में माध्यमिक विद्यालय, चेरापूँजी में उच्च विद्यालय और शिलाँग में एक आश्रम की स्थापना की। शिलाँग उस समय आसाम प्रदेश की राजधानी थी।

उनका स्वास्थ्य तेजी से खराब हो रहा था। वे आश्रम पर भार बनना नहीं चाहते थे। उन्होंने तीनों आश्रमों को संचाा-लित करने वाली प्रबन्धन-समिति से अनुरोध किया कि उन्हें

अपने उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया जाए। समिति के लोग सहमत हो गए, किन्तु उन्होंने केतकी महाराज को यथासम्भव मार्गदर्शन देने का अनुरोध किया। तब से केतकी ने महाराज सक्रिय रूप से कार्य करना छोड़ दिया। उन्होंने समिति को अपने लिए व्यय करने से अस्वीकार कर दिया।

आश्रम की भक्त स्नेहलता धर ने शिलाँग में अपने घर में दो कमरों की व्यवस्था कर केतकी महाराज को रहने के लिए प्रार्थना की। केतकी महाराज ने उनका आग्रह स्वीकार किया और उनके घर चले गये। एक मित्र (डॉ. मनोरंजन गोस्वामी) उनको प्रतिदिन भोजन देते थे। किन्तु इस घर में वे कुछ महीने ही रहे।

"इसी बीच उनके जन्मस्थान (बँगाल के सिलहट का एक गाँव) के स्वजन-सम्बन्धी, विशेषकर नवयुवक, जिन्होंने उनके प्रेरणादायक जीवन के विषय में सुना था, उनको जीवन के अन्तिम दिनों में वापस गाँव में रहने के लिए आग्रह करने लगे। शिलाँग में उनकी सेवा करनेवालों पर वे स्वयं को बोझ का अनुभव कर रहे थे, इसलिए वे एक दशक के बाद अपने गाँव वापस आ गये। सम्पूर्ण गाँव उनकी ऐसी सेवा करने लगा, मानो वे उनके लिए मूल्यवान सम्पत्ति हों। यद्यपि उनका जीवन तीव्र गति से क्षीण होता जा रहा था और वे जानते थे कि किसी भी दिन अन्त समय आ सकता है, तथापि उन्होंने विश्राम नहीं किया। वे युवकों को प्रेरित करते रहते थे। उन्होंने नवयुवकों से कहा कि वे अपने अवकाश के समय में समाज की सेवा करें। उनकी इस प्रेरणा से कुछ ही दिनों में एक संगठन बन गया और गाँव के युवकगण निर्धन, अभावग्रस्त लोगों की देखभाल करने लगे। एक दिन गाँव के लोग केतकी महाराज के घर की ओर कुछ अपरिचित लोगों की भीड़ को जाते हुये देखकर चकित हो गये। ये सब खासी लोग थे, जो उनके हित करने वाले साधु को अपनी अन्तिम श्रद्धांजलि समर्पित करने के लिए आये थे। जब वे पहुँचें, तब उन सबकी सबकी आँखें नम थीं, कुछ दिनों बाद विदाई के समय भी उनकी यही अवस्था थी। ऐसा लगता था, मानो केतकी महाराज उनसे अन्तिम भेंट करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हों, जिन्हें वे अपना समझ चुके थे। केतकी महाराज इसके बाद अधिक दिन नहीं रहे। १९३८ ई. की सुबह वे शान्ति से चिरनिद्रा में सो गये। तब उनकी आयु लगभग ३७ वर्ष की थी !" **(क्रमश:)**

पृष्ठ ६०० का शेष भाग

और मानवमात्र को उसी पथ पर चलकर कृतकृत्य होने की उन्होंने शिक्षा दी थी।"[१६] स्वामी विवेकानन्द जी ने अपनी तेजोमयी वाणी में कहा है, "जिस शक्ति के उन्मेषमात्र से दिग्दिगन्त व्यापिनी प्रतिध्वनि जागृत हुई है, उसकी पूर्णावस्था को प्राप्त करो और वृथा सन्देह, दुर्बलता दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष त्याग कर इस महान युगचक्र के परिवर्तन में सहायता करो।"[१७]

भगवान श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी के रूप में अवतीर्ण होकर श्रीमाँ सारदा देवी ने भावी भारत तथा विश्व को एक नव-अभ्युदय के राजमार्ग पर ला दिया है। जब अपनी रुचि का आदर्श प्राप्त हो जाता है, तब हमारा कर्तव्य है कि हम उसे अपने जीवन में उतारें। ईश्वरावतार ही आदर्श हों और उसमें मातृभाव प्रधान हो, तो हमें अपने प्रयास की अधिकता की आवश्यकता उतनी नहीं होती, जितनी एक मनुष्य को आदर्श मानने पर होती है। यहाँ श्रीमाँ का आशीर्वाद ही प्रधान है। स्वामी गम्भीरानन्द जी लिखते हैं – "माँ कोई निगूढ़ दर्शन अथवा जटिल मतवाद लेकर आविर्भूत नहीं हुई थीं, वे तो आई थीं जीवमात्र की कल्याण-विधायिनी जननी के रूप में। जननी के स्नेह की व्याख्या सन्तान के निकट करने की आवश्यकता नहीं होती।"[१८] हमें श्रीमाँ को मात्र 'माँ' कहकर पुकारना है, शेष वे स्वयं हमें अपने मातृभाव के स्नेह-बंधन से बाँधकर जीवन के परम लक्ष्य की ओर ले जायेंगी। अत: आवश्यकता है, इस पुनरुत्थान काल में श्रीमाँ के अलौकिक पवित्र स्नेह-बन्धन से स्वयं को बाँधकर हम अपने व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर हों। OOO

सन्दर्भ ग्रन्थ – **१.** उद्‌बोधन, शतवर्ष जयन्ती संख्या, पृ. १० **२.** वही, पृ. ९ **३.** बंगला श्रीमायेर कथा, भाग-२, पृ. २९८ **४.** श्रीमाँ सारदा देवी, पृ. १११ **५.** वही, पृ. ३३२ **६.** वही, पृ. ३२७ **७.** वही, पृ. १०८ **८.** प्रेमानन्द प्रेमकथा – ब्रह्मचारी अक्षर चैतन्य, पृ. १४४ **९.** श्रीमायेरकथा, भाग-२, पृ. ३७१ **१०.** श्रीमाँ सारदा देवी, पृ. १०२ **११.** वही, पृ. १०३ **१२.** वही, पृ. २५८ **१३.** श्रीमायेर स्मृतिकथा – स्वामी सारदेशानन्द, पृ. २० **१४.** मैं माँ हूँ - सबकी माँ, पृ. ९५ **१५.** श्रीमाँ सारदा देवी, पृ. २८४ **१६.** भारत में शक्तिपूजा, श्रीमाँ सारदादेवी अवतरणिका **१७.** श्रीमाँ सारदा देवी, पृ. १० **१८.** वही, 'ग्रंथकार का निवेदन' पृष्ठ से।

जीवन के विभिन्न मोड़

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

हमारे जीवन का यह परम सत्य है, जिस दिन हमारा जन्म होता है, उसी दिन हमारी मृत्यु भी निश्चित हो जाती है। मृत्यु जीवन का एक चरम सत्य है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जीवन की दूसरी वास्तविकता है – ईश्वर ने हम सभी को एक निश्चित मात्रा में शक्ति दी है, जो जीवन का आधारभूत तत्त्व माना जाता है। अत: जीवन का अर्थ है – एक निश्चित मात्रा में सीमित शक्ति एवं सीमित समय। इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता, ये दोनों मनुष्य की अन्तिम साँस तक साथ-साथ रहते हैं। ये अद्भुत चीजें हैं। इन पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है। कोई शक्ति और समय का सदुपयोग करे या न करे, समय के साथ दोनों एक दिन नष्ट हो जाते हैं। व्यक्ति को इतनी ही स्वाधीनता है कि वह जीवन में इनके क्षय के पहले सदुपयोग कर इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

जीवन का यह विश्लेषण हमें दर्शाता है कि जिस क्षण से हम अपना निर्णय स्वयं लेने में समर्थ हो जाते हैं, तभी से हम ईश्वर प्रदत्त दोनों शक्तियों का अधिकाधिक सदुपयोग कर सकते हैं। अत: हम कह सकते हैं कि जीवन का अर्थ है – जन्म और मृत्यु के बीच की अवधि, परन्तु कोई नहीं जानता कि मृत्यु का आगमन कब होगा।

हमारा शैशव हमारे माता-पिता, सम्बन्धियों, शिक्षकों और अन्य लोग जिनके सम्पर्क में हम आते हैं, उन पर निर्भर होता है। हमारा स्वतन्त्र जीवन किशोरावस्था से शुरू होता है। उसी समय से हम अपने व्यक्तित्व तथा विशिष्टता के बारे में सजग होते हैं। तभी से हम अपने भविष्य के बारे में सोचते हैं तथा विचार करने लगते हैं कि हम जीवन में क्या पाना चाहते हैं? हमें क्या बनना है? इस उपलब्धि हेतु एक आदर्श, लक्ष्य का प्रयोजन होता है।

हमारे जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण मोड़ आते हैं। पहला मोड़ आता है, जब हम अपनी शिक्षा के विषय का चुनाव करते हैं। जैसे व्यावसायिक, प्रौद्योगिकी, कला, इतिहास, राजनीति, विज्ञान, व्यापार प्रबंधन, दर्शनशास्त्र, भूगोल इत्यादि तथा उक्त विषयों में स्नातक अथवा स्नातकोत्तर उपाधि या किसी विषय में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। शैक्षणिक योग्यता प्राप्त कर हम कह सकते हैं कि जीवन के प्रथम मोड़ पर पहुँच गये हैं। दूसरा मोड़ आता है, जब हम जीविका हेतु नियमित अर्थोपार्जन करने लगते हैं। तीसरा बहुत महत्त्वपूर्ण मोड़ है विवाह। जब कोई नियमित आय कर जीवन में स्थिरता का अनुभव करता है, तब वह विवाह कर गृहस्थ जीवन जीना चाहता है। इस बिन्दु पर आकर प्रत्येक युवा को अपने भविष्य के गृहस्थ जीवन के बारे में निर्णय लेना पड़ता है। आज के इस आधुनिक युग में प्राय: युवा अपने जीवन साथी का चुनाव स्वयं करना चाहते हैं एवं अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।

यहाँ हमारे समक्ष एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आता है – क्या जीवन का उद्देश्य विवाह कर गृहस्थ बनना ही है? इसका निश्चित उत्तर है – नहीं। गृहस्थ जीवन भी उच्च उद्देश्य को पाने का एक माध्यम है, किन्तु हम उच्चतर लक्ष्य को भी अपनाने का प्रयास कर सकते हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रह सकता। सभी एक-दूसरे पर निर्भर हैं। उदाहरणार्थ, हम अपना भोजन स्वयं बनाते हैं, परन्तु हम अनाज स्वयं नहीं उत्पन्न करते हैं। जो वस्त्र हम पहनते हैं, उसे हम नहीं बनाते। अस्वस्थ होने पर चिकित्सक के अनुसार जो दवायें खाते हैं, उसे हम स्वयं नहीं बनाते हैं। इस प्रकार हमारा अस्तित्व असंख्य लोगों की सहायता एवं सहयोग पर निर्भर करता है। जैसे हम दूसरों की सहायता पाते हैं, वैसे ही अन्य लोग भी हमसे सहायता पाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने हमारे जीवन को स्वार्थी नहीं, वरन् संसार की भलाई के लिये परमोपयोगी तथा लाभकारी बनाने के लिए कहा है। उन्होंने शिकागो से मैसूर महाराज को पत्र में लिखा था, "मेरे प्रिय राजकुमार ! जीवन क्षणिक है। इस जगत का सुख भी क्षणस्थायी है। केवल वही जीवित है, जो दूसरों के लिये जीता है। शेष सभी जीवन्मृत हैं।" इस प्रकार कोई भी व्यक्ति स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, किसी भी जाति धर्म, देश का हो, यदि अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहे एवं अनन्त शान्ति एवं ईश्वरकृपा पाने का इच्छुक हो, तो मानव जीवन के इस उच्च आदर्श को स्वीकार कर अपने जीवन को धन्य तथा समाज के लिये वरदान स्वरूप बना सकता है। ○○○

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (१६)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

मामनुस्मर युध्य च

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में केवल अर्जुन को ही नहीं, अपितु अर्जुन को प्रतिनिधि बनाकर समग्र मानवजाति को जीवन जीने की अद्‌भुत कला बताई है। वे यह नहीं कहते हैं कि जीवन के कुरुक्षेत्र से भागो। वे कहते हैं कि जीवन का युद्ध लड़ो और वह भी उत्तम ढंग से लड़ो। मन की सम्पूर्ण स्वस्थता से लड़ो ! युद्ध के मैदान में स्थिरता, स्वस्थता और शान्ति को कैसे बनाएँ रखें? जीवन की विषम परिस्थितियों में किस प्रकार स्थिर रहें? इसके लिये दिव्य मन्त्र भगवान ने अपने मुख से दिया है – 'मामनुस्मर युध्य च', अर्थात् मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो। मुझे सदा स्मरण करते हुये अपना कार्य करो। भगवान यह नहीं कहते हैं कि केवल सबेरे पूजा-पाठ के समय ही तू मेरा स्मरण कर। उन्होंने कहा – सतत मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। हम भी जीवन रूपी युद्ध को सर्वदा यदि ईश्वर का स्मरण करते-करते लड़ेंगे, तो अर्जुन की तरह युद्ध में विजय तो मिलेगी ही और साथ-साथ भगवान स्वयं भी मिलेंगे।

भगवान का नाम सभी रोगों की दिव्य औषधि है। गाँधीजी जब छोटे थे, तब उन्हें बहुत डर लगता था। तब एक दासी ने बालक मोहन को कहा, "तू राम का नाम लेगा, तो भूत-प्रेत सब भाग जायेंगे, रामनाम में ऐसी शक्ति है।" बालक मोहन ने श्रद्धापूर्वक इस नाम को स्वीकार कर लिया। इस नाम के रटने से उसका भ्रम चला गया और फिर तो यह रामनाम उनके जीवन के अन्त तक साथ रहा। अनेक कठिनाइयों, विपत्तियों और स्वतंत्रता संग्राम जैसी महान लड़ाई में भी रामनाम ने गाँधीजी को अपार शक्ति प्रदान की थी। हरि: ॐ आश्रम के महन्त महाराज को फेफड़े में रोग हो गया था। गुरु के दिये हुए मंत्र के सतत जप से उनका रोग दूर हो गया था। मानसिक रोगों को दूर करने की भी अद्‌भुत शक्ति नाम-जप में है।

एक बार श्रीमाँ सारदा देवी जयरामबाटी में सब्जी काट रही थीं। एक ब्रह्मचारी श्रीमाँ को पत्र पढ़कर सुना रहा था। एक भक्त ने लिखा था, "माँ, मेरे मन में शान्ति नहीं है, मेरा मन ईश्वर में लगता नहीं है।" तब श्रीमाँ ने सब्जी एक ओर रखकर हाथ लम्बा करते हुए जोर देकर कहा, तू उसे लिख दे कि वह प्रतिदिन पन्द्रह-बीस हजार बार ईश्वर का नाम-जप करे और कुछ समय तक करने के बाद मन में शान्ति न मिले, तब मुझे लिखे। मन की शान्ति प्राप्त करने का सरलतम उपाय श्रीमाँ ने नाम-जप बताया है।

सांसारिक जीवन-व्यवहार में अनेक समस्याएँ आती ही रहती हैं। मनुष्य निराश हो जाता है। कई बार तो बहुत परिश्रम करने के बाद भी समस्या हल नहीं होती है और उससे हार कर मनुष्य आत्महत्या करने को तैयार हो जाता है। परन्तु जो भगवान का नाम लेते हैं, वे ऐसी निराशा में भी अडिग रहते हैं। श्रीमाँ सारदा देवी ने संसार की सभी समस्याओं का समाधान बताते हुए एक भक्त को कहा था, "चुपचाप ईश्वर का नाम लेते रहो, भगवान के नाम का जप करते रहो, यह जीवन की समस्याओं को हल करने का सरलतम और उत्तमोत्तम मार्ग है।" जीवन से भागने से किसी समस्या का समाधान नहीं होता है। कई लोग जीवन से घबड़ाकर कहते हैं, "हमें संन्यास लेना है, हमें सब कुछ छोड़ देना है, फिर हमें कोई समस्या ही नहीं रहेगी।" लेकिन यह तो पलायनवाद है। जीवन से घबड़ाकर, ऊब कर, हार कर संन्यास लेने से शायद बाहर से सब छूटा हुआ दिखाई दे, पर अन्दर की स्थिति बदलती नहीं है। इसलिये केवल बाहर से सब कुछ छोड़ देने से, मानसिक शान्ति नहीं मिलती है। इसके लिये मन की स्थिति बदलनी पड़ती है। मन को ऊँची स्थिति में ले जाने का यदि कोई सरलतम और सर्वसुलभ उपाय या साधन है, तो वह है भगवान के नाम का जप।

भाग्य को बदल डालने की प्रचंड शक्ति भगवान के नाम में है। श्रीमाँ सारदा देवी कहती हैं, "विधाता के लिखे लेख को भी मिटाने की शक्ति नाम-जप में है। विधाता के लिखे लेख को विधाता के सिवाय कोई मिटा नहीं सकता है, परन्तु जो भगवान के नाम को सतत रटता रहता है, विधाता स्वयं अपने लेख को अपने हाथों से मिटा देते हैं।" राम-नाम ने ही वालिया डाकू को, विधाता के लेख को मिटाकर, उसे महान ऋषि वाल्मीकि बना दिया था, यह कथा सर्वविदित है।

सामान्यत: जब कोई दुख आता है, तभी भगवान का नाम याद आता है। इसीलिए कबीरदासजी कहते हैं –

दुख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, दुख काहे को होय।।

मनुष्य को सुख में भगवान का नाम याद नहीं आता है। सुख में तो आदमी भोगविलास में लगा रहता है, पर जब दुख आता है, तब कहने लगता है – "हे भगवान, मुझे बचाओ।" ठीक है, दुख और विपत्ति में भी यदि कोई भगवान को याद करे, तो भगवान अवश्य बचा लेते हैं। 'ध्यान, धर्म और साधना' नामक पुस्तक में स्वामी ब्रह्मानन्द जी कहते हैं,

"जहाँ भगवान का नाम होता है, वहाँ पाप टिकता नहीं है, अपवित्रता नहीं रहती। रुई के ढेर में माचिस जलाते ही जैसे समस्त रुई क्षणभर में भस्मीभूत हो जाती है, वैसे ही एक क्षण में सभी पापों को भस्मीभूत करने की शक्ति भगवान के नाम में विद्यमान है।"

केवल दुख में नहीं, सुख में भी यदि भगवान का नित्य स्मरण किया जाय, तो मन अद्भुत रूप से शान्त और प्रसन्न रहता है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "ईश्वर के नाम का गुणगान हमेशा करना चाहिए और सत्संग में ईश्वर के भक्त और साधु के पास कभी-कभी जाते रहना चाहिये।" ईश्वर का नाम लेने से ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप के साथ मनुष्य का तादात्म्य हो जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को याद करते ही उसकी आकृति सूक्ष्म रूप से मन के पर्दे पर आ जाती है और उसके साथ अदृश्य सम्बन्ध हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर का नाम लेने से चित्त में ईश्वर की अदृश्य छवि अंकित हो जाती है, सूक्ष्म रूप से ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ईश्वर तो सर्वशक्तिमान हैं ही, उनके साथ सम्बन्ध जुड़ जाने के बाद अदृश्य रूप से मनुष्य में अद्भुत शक्ति आ जाती है। इस शक्ति के आने से उसे समस्याएँ, परिस्थितियाँ इतनी विकट नहीं लगती हैं। अधिक नामस्मरण करने से भगवान की शक्ति, शान्ति, प्रेम, करुणा, कृपा आदि दैवी उपहार उसे मिलते हैं। उसकी आन्तरिक स्थिति बदल जाने से कोई कठिनाई उसे अनुभव नहीं होती है, कोई समस्या परेशान नहीं करती है। जो लोग भगवान का नाम-स्मरण करते-करते जीवन के सभी कार्य करते हैं, उन्हें जीवन में परम शान्ति तो मिलती ही है, शान्ति के दाता स्वयं भगवान भी मिलते हैं। यह बात भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के आठवें अध्याय के सातवें श्लोक में कही है –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।

इसलिए तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।

इस प्रकार सीधा-सादा, सरल लगनेवाला, सहजता से उच्चरित होनेवाला, किसी भी परिस्थिति में ले सकनेवाला भगवान का नाम, जैसे सूर्य घनघोर बादलों को बिखेर कर प्रकाश फैला देता है, वैसे ही जीवन में छायी हुई निराशा, हताशा, चिन्ता और कठिनाइयों के बादलों को बिखेर कर हृदय में ऐसा दिव्य प्रकाश फैला देता है कि फिर उस प्रकाश में अज्ञान का कोई बादल दिखता नहीं है और जीवन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। **(क्रमशः)**

पुस्तक समीक्षा

व्यक्तित्व विकास और भगवद्गीता

लेखक – डॉ. सुरेशचन्द्र शर्मा

सम्पादक – ओमप्रकाश श्रीवास्तव (आई.ए.एस.)
प्रकाशक – मंजुल पब्लिशिंग हाउस, ७/३२, भू तल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - ११०००२
पृष्ठ - १४२, मूल्य – १५०/-

धर्मशास्त्रानुसार ८४ लाख योनियाँ हैं। उसमें मानव योनि सर्वश्रेष्ठ कही गई है। शंकराचार्यजी ने भी मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष-संश्रय की दुर्लभता को इंगित किया है। कहा जाता है कि सभी प्रकार के जीवों की सृष्टि करके भी ब्रह्माजी सन्तुष्ट नहीं हुये। जब उन्होंने मानव की सृष्टि की, तब उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। ऐसा दुर्लभ मानव जीवन है !

मानव का सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास कैसे हो, कैसे उसमें निहित समस्त शक्ति, समग्र गुण अभिव्यक्त होकर व्यक्ति के जीवन को धन्य कर दें, इस पर भगवद्गीता के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा डॉ. सुरेशचन्द्र शर्मा की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'व्यक्तित्व विकास और भगवद्गीता' में की गई है।

शर्माजी जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर में प्रमुख वैज्ञानिक और मृदा विज्ञान विभागाध्यक्ष थे। इसके साथ ही वे विवेकानन्द साहित्य के अध्येता हैं। इस पुस्तक में उनके वैज्ञानिक मनोभाव और दार्शनिकता की झलक मिलती है। यह पुस्तक आठ अध्यायों में है। इसमें मानव व्यक्तित्व और उसके विकास पर विस्तृत विश्लेषण है। लेखक का मत है – "गीता का उद्देश्य मानव के आत्मिक विकास का पथ प्रशस्त करना है, ताकि वह देह की दासता से मुक्त होकर भगवान के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के प्रति सचेत हो सके। ... गीता व्यक्तित्व से परे जाकर मानव के परिपूर्ण विकास की प्रक्रिया बताती है। श्रद्धा-बुद्धि-धृति युक्त मधुर, समरस एवं संगीतमय दिव्यभाव की उपस्थिति कुरुक्षेत्र (संघर्षमय जीवन) को धर्मक्षेत्र (आन्तरिक उत्कर्ष) में रूपान्तरित कर देती है। इसे मानव व्यक्तित्व का परिपूर्ण विकास कहते हैं "

इस पुस्तक का सम्पादन शिवपुरी के कलेक्टर और जिलादण्डाधिकारी श्री ओमप्रकाश श्रीवास्तव जी ने कुशलतापूर्वक किया है। पुस्तक पठनीय, संग्रहणीय है और उसमें निहित जीवनमूल्य आचरणीय हैं। इसके लिये लेखक, सम्पादक और उनके सहयोगी धन्यवादार्ह हैं। OOO

छात्रों को ऐसी शिक्षा दें

श्रीराम अग्रवाल

प्राचीन काल में प्रकाण्ड पंडित और सर्वोत्तम आचरण के आदर्श ऐसे कई वैदिक ऋषि थे, जो गुरुकुल का संचालन करते थे। वे हमारी विपुल ज्ञानसम्पदा वैदिक ऋचाओं को विद्यार्थियों को कंठस्थ कराते थे। इसलिये वेदों को श्रुति भी कहते हैं। वे विषय की व्याख्या कर समझाते थे। प्रश्नोत्तर के द्वारा विद्यार्थियों का शंका-समाधान कर उन्हें ज्ञान प्रदान करते थे। वे शिष्यों को सरल ढंग से और सूत्रवत् शिक्षा प्रदान करते थे। आदर्श आचार्य में पराशर महर्षि की गणना होती है। वे ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा हैं। प्रमुख स्मृतिकार हैं। उनका प्रसिद्ध सूत्र है – **सा विद्या या विमुक्तये** – विद्या वह है, जो मुक्ति प्रदान करे। पराशर महर्षि का यह सूत्र भारतीय शिक्षा प्रणाली की आधार-शिला है। इसी में शिक्षण का सारा दर्शन निहित माना जाता है। सूत्ररूप में विद्या-ग्रहण करने में अधिक सरलता होती है। मुण्डकोपनिषद् में विद्या के परा और अपरा दो भेद मिलते हैं। परमात्मा के साक्षात्कार में सहायता करने वाली विद्या परा विद्या है और शेष सभी अपरा विद्या है। इसे अविद्या भी कह सकते हैं। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है – **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते** (अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत प्राप्त किया जाता है।) भूख-प्यास से लोगों की मृत्यु हो जाती है, अत: इसका निवारण होना चाहिये। इसका आशय है कि लौकिक ज्ञान से इनका हल ढूँढ़ते हुए अध्यात्म ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करो। संसार में जीवन की सार्थकता के लिये ये दोनों विद्याएँ अनिवार्य हैं। विमुक्तये शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है। जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले इस संसार से छुटकारा पाना ही विमुक्ति है।

छात्रों को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अध्यात्म पथ की ओर अग्रसर हों। इसे तीन आयामों में बाँटा जा सकता है। पहला आयाम – छात्र को स्वावलम्बी बनने और सच्चाई से अर्थार्जन कर अपनी निर्धनता दूर करने तथा सम्मानजनक जीवन जीने की शिक्षा मिलनी चाहिये। ऐसी मानसिकता बने कि वे चाहे व्यापार करें या अन्य प्रकार से अर्थार्जन करें, किन्तु मानवीय सद्‌गुणों का विकास करते हुए एक सच्चे मानव भी बनें। दूसरा आयाम – मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के द्वारा ही उसकी उन्नति हुई है। इसलिये वह भी समाज की सेवा के लिये समर्पित हो। ऐसी मनोभावना का विकास हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से होना चाहिये। तीसरा आयाम – यह आध्यात्मिक आयाम है। जीवन में आगे बढ़ने और समाज में सम्मानित जीवन जीने के लिए स्वाधीन उदार विचार, चिन्तन और विवेकपूर्ण सत्कर्मों की आवश्यकता है। हमारे विचार और कर्मों से ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। श्रीकृष्ण, बुद्ध देव, आदिशंकराचार्य जैसे मेधावी महापुरुषों ने भी कहा, विचार-विमर्श करो, तब आचरण करो। वर्तमान शिक्षण-प्रणाली में इस आध्यात्मिक विद्या को व्यावहारिक रूप से सम्मिलित करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त शिक्षा हमें राग-द्वेष के द्वंद्व से, काम-क्रोध और असंयम आदि से मुक्त कर संयमित, सुखी और आनन्दमय जीवन दे, ऐसी होनी चाहिये। अन्त में शिक्षा व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करा दे, उसे पूर्णत: सम्पूर्ण बन्धनों से स्वतन्त्र कर दे, ऐसी होनी चाहिये। यह विमुक्ति की पराकाष्ठा है। ऐसी विमुक्ति जिससे प्राप्त हो, वही पराविद्या है। सच्ची विद्या, सच्चा शिक्षण वही है, जिससे आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक स्वतंत्रता मिले।

शिक्षा प्रणाली में भौतिक विद्या और ब्रह्मविद्या दोनों का विकास और सदुपयोग की प्रणाली सम्मिलित की जानी चाहिये। स्वामी विवेकानन्द जी ने इसी को शील संवर्धिनी शिक्षा कहा है। वे छात्रों का सर्वांगीण विकास की शिक्षा चाहते थे। इस शिक्षा प्रणाली में शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास के अतिरिक्त आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये अनिवार्य प्रार्थना, जप, ध्यान आदि को समुचित स्थान मिलना चाहिए। इसके लिए सुयोग्य शिक्षकों को नियुक्त कर उन्हें कालोचित प्रशिक्षण मिलना चाहिए।

यदि समर्थ शिक्षक चरित्रवान, सुशील छात्रों का निर्माण करें, तो नि:सन्देह मानवता का कल्याण होगा और भारत अतीत काल की तरह पुन: जगद्‌गुरु बन जायेगा।

OOO

समाचार और सूचनाएँ

मुख्यमन्त्रीजी ने विवेक ज्योति पत्रिका के 'भगिनी निवेदिता विशेषांक' का विमोचन किया

१६ सितम्बर, २०१७ को छत्तीसगढ़ के मुख्यमन्त्री सम्माननीय डॉ. रमन सिंह जी ने रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम से ५५ वर्षों से प्रकाशित होनेवाली 'विवेक ज्योति' पत्रिका के 'भगिनी निवेदिता विशेषांक' का विमोचन किया। अक्तूबर, २०१७ का यह विशेषांक भगिनी निवेदिता की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया गया है।

विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर में विश्व-भ्रातृत्व दिवस मनाया गया

स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा शिकागो में सर्वधर्म-सम्मेलन में प्रदत्त ऐतिहासिक व्याख्यान की १२५वीं वर्षगाँठ की स्मृति में ११ सितम्बर, २०१७ को अपराह्न ३ बजे विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में विश्व-भ्रातृत्व दिवस मनाया गया। अतिथियों द्वारा दीप-प्रज्वलन आदि के बाद विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने शिकागो-व्याख्यान की ऐतिहासिकता और उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि यदि हम स्वस्थ और समृद्ध भारत का गठन करना चाहते हैं, तो स्वामी विवेकानन्द के विश्वबन्धुत्व के सन्देश को स्वीकार करना पड़ेगा। सभा की अध्यक्षता करते हुये रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने कहा कि हम जिन महापुरुष के बारे में चर्चा कर रहे हैं, उनके उपदेशों को अपने जीवन में आत्मसात् करना चाहिए । मुख्य वक्ता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सह-सचिव स्वामी अव्ययात्मानन्द जी ने भी महत्त्वपूर्ण विचार प्रदान किये। सभा के मुख्य अतिथि छतीसगढ़ विज्ञान और प्रौद्योगिकी परिषद, रायपुर के पूर्व महानिदेशक प्रो. एम. एम. हम्बर्डे ने अपने उद्बोधन में कहा कि स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुता से ही स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है। भारत का सामान्य व्यक्ति देश और समाज के विकास हेतु सरकार पर आश्रित है, जबकि उन्हें आत्मनिर्भर होकर समरसता का विकास करना होगा। स्वतन्त्रता और समता की अनुभूति होने पर ही बन्धुता की बात आती है। स्वतन्त्रता का मूलमन्त्र अपने कर्तव्यों का पालन कर दूसरों के अधिकारों को पूर्ण करना है। टुंडला से आये चन्द्रमोहनजी ने स्वामी विवेकानन्द पर स्वरचित काव्यपाठ किया।

श्रीरामकृष्ण आश्रम, जबलपुर में व्याख्यान

८ सितम्बर, २०१७ को श्रीरामकृष्ण आश्रम, घमापुर, जबलपुर में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने छात्र-छात्राओं के लिये अपराह्न २ बजे 'स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मनुष्य बनने की शिक्षा' विषय पर और शाम ७ बजे श्रीरामकृष्ण मन्दिर में 'स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आध्यात्मिक जीवन में कर्म और भक्ति का समन्वय' विषय पर भक्तों के लिये व्याख्यान दिए। श्रीरामकृष्ण आश्रम, जबलपुर के संस्थापक सचिव ९६ वर्षीय श्री अधरसेन चन्द्र लोध जी, स्वामी स्वात्मानन्द जी, सभाध्यक्ष श्री के. के. चतुर्वेदी जी मंचस्थ थे।

स्वामी विवेकानन्द शिकागो व्याख्यान की १२५वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में ९ सितम्बर, २०१७ को 'विश्व-भ्रातृत्व दिवस' श्रीराम इंस्टिट्युट ऑफ टेक्नोलोजी एन्ड मेनेजमेन्ट' में विवेकानन्द केन्द्र के संयुक्त तत्त्वावधान में कार्यक्रम आयोजित हुआ। इसमें रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. कपिलदेव मिश्र, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द, जबलपुर के स्वामी स्वात्मानन्द और डॉ. अखिलेश गुमास्ता जी ने छात्र-छात्राओं और शिक्षकों को सम्बोधित किया। इंस्टिट्युट के निदेशक श्री रामकिशोर कारसोलिया और अन्य प्रमुख लोगों की भी सहभागिता रही। ○○○

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २०१७ ई. में प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

अन्य संकलन

○○○